शुद्धोपयोग

लेखक – आचार्य विरागसागर

कृति : शुद्धोपयोग

लेखक : परम पूज्य दिगम्बराचार्य श्री १०८ विराग सागरजी महाराज

संयोजन : पं. पदमचन्द जी शास्त्री, कटनी

संपादन : डॉ. दरबारी लाल कोथिा, बीना

प्रकाशक : श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विराग विद्यापीठ
भिण्ड (म.प्र.)

संस्करण : द्वितीय, २००४

लागत मूल्य : पच्चीस रुपये

पुण्यार्चक : श्रीमान सेठ भागचंदजी (सीकर)
कलकत्ता (प. बंगाल)
श्रीमान सेठ गुलजारीलाल जैन
रफीगंज (झारखण्ड)

टाईप सेटिंग : सरोज ट्रेडर्स
१५/५, रामबाग कॉलनी, नागपूर - ४४० ००३.
फोन : २७०१७८७

मुद्रक : गिरनार ग्राफिक्स
ग्रेट नाग रोड, नागपुर - ४४० ००९

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोग जुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्ग सुइं॥
असुहोदयेण आदा कुणरो तिरयोभवीयणेरइयो।
दुक्ख सहस्सेहिंसदा अभिधुदो भमदि अच्चंतं॥
प्र. सा. मू. ११-१२

धर्म से परिणत आत्मा जब शुद्धोपयोग सहित होता है तब निर्वाण सुख को प्राप्त करता है और जब वह शुभोपयोग से युक्त होता है तब स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है तथा वह आत्मा जब अशुभोपयोग से युक्त होता है तब कुमनुष्य, तिर्यंच और नारकी होकर हजारों प्रकार के दुःखों को प्राप्त करता हुआ संसार में चिरकाल तक भ्रमण करता है।

शुद्धोपयोग

: लेखक :
परम पूज्य दिगम्बराचार्यश्री १०८ विराग सागरजी मुनि महाराज

: सम्पादक :
न्यायाचार्य पं. डॉ. दरबारीलाल कोठिया (बीना)
भूतपूर्व रीडर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

: प्रकाशक :
श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विराग विद्यापीठ
भिण्ड (म.प्र.)

समर्पण

''सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र से विचलित भव्यों के स्थितिकरणार्थ''

तथा

''उन महानुभावों के सुबोध के लिए, जो पक्षाग्रह के व्यामोह से मुक्त है,
तत्त्व के सत्यान्वेशी और पिपासु है, मंद कषायी हैं, आर्ष-आचार्यों
द्वारा प्रणीत एवं समागत आगम के वाक्य ही जिन्हें
प्रमाण हैं, जो सदा भव भीरु हैं, मोक्ष के
अनवरत हार्दिक इच्छुक है एवं
यथाशक्य साधक हैं।''
यह कृति समर्पित है

ॐ नमः।

प्राक्कथन

चिरकाल से चर्चित चला आ रहा यह विषय ''चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता है ''कितनों को सुज्ञात एवं अपरिचितों और परिचितों को सनिर्णीत हो सका। जिज्ञासुओं की जिज्ञासा तथा हठवादियों के हठ का विषय बना चला आ रहा है। इसे हम यहां देखने एवं समझने का प्रयास करेंगे।

किसी भी विषय को लिखना और बोलना उतना कठिन नहीं है, जितना कि कठिन उसके सत्य सिद्धांत को कायम रखकर समझना, लिखना या बोलना कठिन है। यह तब तक संभव नहीं, जब तक हम पूर्वाग्रह को नहीं छोडते है। पूर्वाग्रह पूर्वक किये गये लेखन, श्रवण, भाषण/प्रवचन कभी भी अपने आप सत्य नहीं हो सकते है। भले ही हम उन्हें अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों के द्वारा समझाने की कोशिश करें। यदि युक्ति के अनुसार सिद्धांत या आगम को बदलते है तो निश्चित है कि हम भटक जायेंगे क्योंकि ''युक्ति के अनुसार आगम नहीं होता अपितु आगम के अनुसार ही युक्ति होती है'' (धवलाजी) आगम और सिद्धांत के समझने के लिए ही युक्ति और दृष्टान्त दिए जाते है।

यदि हमारे जीवन का मुख्य अंग सत्य हो जाये, तो निश्चित ही हम समस्त पक्ष-व्यामोह से रहित हो सकते हैं। अथवा जैसे-जैसे हमारा पक्ष व्यामोह घटता जायेगा, वैसे वैसे सत्य प्रकट होता जायेगा। पक्ष और सत्य दोनों एक साथ नहीं रह सकते। पक्ष व्यामोह सत्य को संकीर्ण और विकृत बनाकर व्यक्ति को सत्य से भ्रमित कर देता है। अतः पक्ष से मुक्त होकर सत्य को समझना चाहिए और उसे ही यहाँ समझने का प्रयत्न करना है। सत्य किसी प्रामाणिक वक्ता के बिना समझा नहीं जा सकता है। अतः वक्ता भी प्रामाणिक होना चाहिए, क्योंकि वक्ता के प्रामाणिक होने पर ही उसके वचनों मे प्रामाणिकता आती है। जैन दर्शन में वक्ता के मुख्य दो भेद कहे है। एक साक्षात् और दूसरा असाक्षात् या परम्परागत। साक्षात् वक्ता तीर्थंकर, अरहंत परमात्मा हैं तथा असाक्षात् या परम्परागत वक्ता आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी हैं।

वक्ता के उपर्युक्त ये दो ही प्रकार संभव है। शेष सभी वक्ता इन्हीं के अनुसरणकर्ता हैं। अतः उनके जितनें वाक्य मूल आगम से मिलते हैं वे प्रामाणिक हैं, क्योंकि ये वास्तव में अरहंतों व आचार्यों आदि के ही वाक्य हैं। तथा जिनकी प्रामाणिकता जैनाचार्य प्रणीत आगम के मूल श्लोक, गाथा या संस्कृत टीका में नहीं मिलती है वह प्रमाणित नहीं है। इसी दृष्टि को लेकर प्रायः इस लेख में जो भी प्रमाण दिये है वे सभी जैनाचार्यों के हैं और उन्हीं की हिन्दी की गई है अथवा मात्र भाव लिया गया है। आवश्यकता पड़ने पर हमने उसे ही स्पष्ट करने का प्रयास किया है तथा इस बात की पूर्णतः सावधानी रखी है कि कोई भी वाक्य आचार्यों द्वारा प्रणीत आगम वाक्य से बाधित न हो, फिर भी भूल होना संभव है क्योंकि मैं एक अल्पज्ञ-क्षद्मस्थ हूँ। किन्तु एक वैज्ञानिक सिद्धान्त वाला हूँ अर्थात विज्ञान का सिद्धान्त यदि प्रेक्टिकल है तो मेरा सिद्धान्त भी जैनाचार्य प्रणीत आगम है। वैज्ञानिक जिस प्रकार कहता है कि जितनी आज तक खोज हुई वह यह है या उसकी परिभाषा यह हैं। आगे विशेष खोज के पश्चात् यदि हमारे द्वारा निश्चित की गई परिभाषा बाधित होती है तो हम उस निश्चित किये गये सिद्धांत को परिवर्तित भी कर सकते है। उसी तरह मेरी भी मान्यता है कि आज तक जिसे पढ़ा, खोजा,

समझा या पाया वह यह है। आगे यदि विशेष खोज होने पर और कुछ विशेष मिलता है तो हमें पक्षाग्रह या हठाग्रह नहीं, अपितु पूर्व परिभाषा, लेख या पुस्तक में परिवर्तन भी कर सकते हैं, किन्तु वह कोरी युक्तियों द्वारा नहीं।

यद्यपि लेख में संस्कृत, प्राकृत या उनके हिन्दी अर्थ में, भाव में शब्द, अक्षर, मात्रा, पद या संदर्भित ग्रंथों के उल्लेख-वाक्यों तथा भाषा संयोजन में त्रुटियाँ संभव है, जिन्हें साधुजन परिमार्जित कर हमें सूचित करेंगे, ताकि, भविष्य में उनका परिमार्जन किया जा सके। यह लेख किसी के आक्षेप हेतु नहीं लिखा गया, किन्तु सत्य दिशा बोध हेतु ही लिखा गया है।

यदि यह लेख किसी की विचलित श्रद्धा को स्थिर कर परमार्थ में सहायक बनता है तो मैं अपने श्रम की सार्थकता समझता हूँ तथा यदि किसी को अनावश्यक चोट पहुँचती हो तो क्षमाप्रार्थी हूँ, साथ ही "नहि कृतमुपकारं साधवः विस्मरन्ति" के अनुसार डॉ. पं. श्री दरबारीलाल जी कोठिया का श्रम सराहनीय है जिन्होंने वृद्ध और अस्वस्थ रहते हुए भी इस ग्रंथ का संपादन किया।

सुश्री रश्मि जैन, दिनेश जैन बीना जिन्होंने क्रमशः स्वतंत्र रूप में ग्रंथ की प्रेस कॉपी, मुद्रण की देख-रेख प्रशंसनीय कार्य किया है साथ ही इनके अलावा और भी जिनने इस कार्य में श्रम किया हो उन सभी के लिए मेरा शुभाशीर्वाद है वे भविष्य में भी इसी तरह पारिमार्थिक कार्य करते रहें।

चातुर्मास बीना (इटावा)
३०/७/९५

द्वितीय संस्करण

प्रथम संस्करण विद्वद जनों को कितना रूचिकर हुआ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उनके द्वारा प्रेषित "समीक्षाऐं" है जिनके माध्यम से परिमार्जन व परिवर्धन हो सका। एतदर्थ मेरा उन्हें शुभाशीर्वाद है।

किन्हीं कारणों वश द्वितीय संस्करण विलंबित जरूर हुआ पर ठोस हुआ इसकी मुझे हार्दिक खुशी है।

इस संस्करण के प्रकाशन में श्री दिनेश जैन (इंजिनियर) भिलाई, श्री हीराचंद मिश्रीकोटकर नागपुर आदि का श्रम श्लाघनीय रहा। इसी प्रकार श्री भागचंदजी दीवानजी तथा श्री गुलजारीलालजी, रफीगंज को भी शुभाशीर्वाद है जिन्होंने सहर्ष इस कृति का प्रकाशन कराया।

नागपुर
श्रुतिपंचमी, २००४

ॐ नमः।
आचार्य विरागसागर मुनि

संपादकीय

परम पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री १०८ विरागसागरजी महाराज की प्रस्तुत कृति "शुद्धोपयोग" जब मैंने पढ़ी तो आज के समय में वह बहुत उपयोगी एवं आवश्यक जान पड़ी।

इसमें प.पू. आचार्य श्री ने आगम प्रमाणों के आधार से उस नये विवाद को निरस्त किया है जो कुछ नई विचारधारा के विद्वानों तथा समयसारीजनों में दृष्टिगोचर होता है। उनका मन्तव्य है कि असंयतसम्यक्दृष्टि (चतुर्थ) गुणस्थान में शुद्धोपयोग/शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है।

प.पू. आचार्य विरागसागरजी ने आगम प्रमाणों को इसमें उपस्थित कर सिद्ध किया है कि बिना पूर्ण संयम एवं स्वरूपाचरण चारित्र के न केवल असंयत सम्यक्दृष्टि के, अपितु देशसंयत (पंचम) और प्रमत्त संयत (षष्ठ) गुणस्थानों में भी शुद्धोपयोग नहीं होता। अप्रमत्तसंयत (सप्तम) गुणस्थानों से वह आरम्भ होता है।

आचार्य श्री के कथन और उनके द्वारा प्रस्तुत आगम-प्रमाणों का अनुसरण विद्वत्प्रवर पं. दौलतरामजी ने भी विक्रम संवत् १८९१में रचे अपने 'छहढाला' में किया है। वह इस प्रकार है :-

यों है सकलसंयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरण अब।
जिस होत प्रगटै अपनी निधि, मिटै परकी प्रवृत्ति सब॥
जिन परम पैनी सुबुधि-छैनी, डारि अन्तरभेदिया॥
वर्णादि अरू रागादितैं, निज भाव को न्यारा किया॥
निजमांहि निजके हेतु निजकर आपकौं आपौ गहौ।
गुण-गुणी ज्ञाता-ज्ञानज्ञेय-मझार कछु भेद न कहौ॥
जहाँ ध्यान-धाता-ध्येय कौन विकल्प वच-भेद न जहां।
चिद्भाव-कर्म चिदेश कर्ता चेतना क्रिया तहां॥
तीनों अभिन्न अखिन्न सुधउपयोग की निश्चल दशा।
प्रकटी जहां, दृग्-ज्ञान-व्रत ये तीन धाएकै लसा॥

इन पद्यों में जिस अवस्था का वर्णन किया है वही शुद्धोपयोग (शुध उपयोग) है और वह असंयतों एवं प्रमत्त संयतों के सम्भव नहीं है, वह अवस्था अप्रमत्तसंयत (सप्तम) गुणस्थान से होती है। इसीलिए उक्त पद्यों के उपरान्त पं. दौलत रामजी ने कहा है कि 'यों चिन्त निज में स्थिर भये तिन अकथ जो आनन्द लहो, सो इन्द्र नाग नरेन्द्र अहमिन्द्र क नाही कहो।' उनका यह कथन उभय श्रेणियों खास कर क्षपक श्रेणी की स्थिति को प्रकट करता है।

आचार्य श्री ने उन आगम वाक्यों को इसमें कई स्थानों पर दिया है जिनमें बतलाया गया है कि आध्यात्मिक दृष्टि से उपयोग के तीन भेद है - १. अशुभोपयोग, २. शुभोपयोग और ३. शुद्धोपयोग। इनमें उन अशुभोपयोग आदि के मिथ्यात्व, सासादन और सम्यक् मिथ्यात्व

इन तीन गुणस्थानों में और शुभोपयोग असंयत सम्यक् दृष्टि, देश संयत और प्रमत्तसंयतों के होता है। फलतः शुद्धोपयोग अप्रमत्तसंयतो के होना स्वयं सिद्ध हो जाता है। यह भी ध्यातव्व है कि आदि के दो उपयोग सविकल्प है और तीसरा उपयोग शुद्धोपयोग निर्विकल्प है। इससे वह निर्विकल्प सप्तम गुण स्थान अप्रमत्त संयत में ही संभव है। एक बात और है, वह यह कि आदि के दो उपयोग सराग ध्यानों से सहित है। पर शुद्धोपयोग में बुद्धि पूर्वक सराग ध्यान नहीं होता। अतः चौथे, पाँचवे गुणस्थानों में चारित्रमोह जन्य मलिनता से रहित शुद्धोपयोग असम्भव है। छठे प्रमत्त संयत गुण स्थान में भी पिच्छी, कमण्डल, शास्त्र और प्रतिक्रमणादि क्रियाओं में संज्वलन कषायजन्य मोह रहने से शुद्धोपयोग की संभावना नहीं है।

पाठकों, विशेषतया चौथे असंयत, पांचवे देश संयत और छठे प्रमत्तसंयत गुण स्थानों में शुद्धोपयोग मानने वालों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे निष्पक्ष भाव से आचार्य श्री की इस महत्त्वपूर्ण कृति का पुनः पुनः अध्ययन करें। हम प.पू. गुरुदेव आचार्य श्री के आभारी है।

चातुर्मास बीना (इटावा)
१४/१२/१९९४

– डॉ. दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

प्रस्तुति

किसी भी बात को सिद्ध करना सहज नहीं होता है। हर विषय का प्रतिपादन भी हर किसी के वश की बात नहीं है। किसी भी कार्य की प्रक्रिया तभी बनती है जब वह कार्य सुचारु रीति एवं प्रामाणिक तथ्यों पर किया गया हो। **परम पूज्य १०८ श्री आचार्य विरागसागर जी मुनि महाराज** द्वारा लिखित यह **'शुद्धोपयोग'** लेख भी इसी प्रक्रिया पर आधारित है। इसमें आचार्य श्री ने उन तमाम तथ्यों और प्रमाणों को देकर शुद्धोपयोग कहाँ, किसके और किन आचारों के साथ हो सकता है, इसका सप्रमाण प्रतिपादन किया है। इसके लिए अनेक ग्रन्थों एवं अनेक आचार्यों के उदाहरण देकर उसे पुष्ट किया है।

आचार्य श्री १०८ विरागसागर जी महाराज ने वर्तमान परिपेक्ष्य में कुछ विद्वज्जन ऐसा मानते हैं कि चतुर्थ गुणस्थान में अथवा सिर्फ आत्मा की चर्चा करने मात्र से शुद्धोपयोग बन जाता है, यानी आत्मा में शुद्धता आ जाती है, उनका निराकरण करने के लिए पूर्वाचार्यों के प्रमाण देकर इसका स्पष्टीकरण किया है, कि शुद्धोपयोग का प्रारंभ अप्रमत्त दशा अर्थात सप्तम गुणस्थान से ही होता है। इसके पहले चौथे, पांचवे, छठवे, गुणस्थान में शुद्धात्मा का श्रद्धान और ज्ञान तो है लेकिन तदनुसार जो आत्म-रमणता आत्मा में आत्मा की स्थिरता, जिसे चारित्र कहते है और जिसका दूसरा नाम शुद्धोपयोग है, वह नहीं बनता।

जैन वाङ्मय में पूर्ववर्ती आचार्यों ने बराबर उपयोग का लक्षण, भेद आदि का पूर्ण रीति से वर्णन किया है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से उपयोग के दो भेद कर जीव तत्व के अस्तित्व की सिद्धि की है। अशुभोपयोग, शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग रूप अध्यात्म और आगम में, जो उपयोग के भेद किये गये हैं वे चरित्र रूप आत्मा की प्रवृत्ति के आधार पर किये हैं। मिथ्यात्व के साहचर्य के साथ आत्मा की जो वृत्ति है वह अशुभोपयोग है।

सम्यकत्व के साथ जो परिग्रह एवं प्रमाद रहित आत्मा का उपयोग है वह शुभोपयोग अथवा अशुभोपयोग है एवं सम्यकत्व सहित अप्रमत्त होकर जो आत्मलीनता है वह शुद्धोपयोग है। इस तरह समस्त उपयोग-विषयक चर्चा आचार्य श्री ने इस लेख में की है।

हम आभारी है परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विरागसागर जी महाराज के, जिन्होंने शुद्धोपयोग के बारे में एवं उसके स्वामी के विषय में हमारी भ्रान्ति को दूर कर हमें सन्मार्ग दिखाया है। इस लेख का अध्ययन कर हमें जो दिशाबोध प्राप्त हुआ है वह इस प्रकार है मिथ्यात्व सहित जो भी देव, शास्त्र, गुरु का पूजन, व्रत, तप एवं संयम का आचरण है वह शुभ योग है एवं बंध का कारण है। किन्तु सम्यकत्व सहित जो व्रत, नियम, संयम का आचरण होता है वह पुण्यास्रव एवं संवर का कारण है। वह शुभोपयोग है।

पूज्य आचार्य श्री ने अपना अमूल्य समय देकर नयों एवं शुद्धोपयोग की चर्चा की है तथा विषय का यथार्थ निरूपण कर जैन वाङ्मय की जो सेवा की वह अनिर्वचनीय है। आप एक *उत्साही एवं कर्मठ व्यक्तित्व से संपन्न संत है। इस लेख को पढ़कर तथा उसमें संग्रहीत सामग्री*

को देखकर पाठक जन स्वयं जान लेंगे कि आचार्य श्री ने कितनी लगन से सिद्धांत ग्रंथों का पारायण एवं अवलोकन कर उनमें से शुद्धोपयोग विषयक नवनीत निकाला एवं अमृत सार प्रस्तुत किया, जिसे पढ़कर भक्तजनों का मस्तक श्रद्धा से आचार्य श्री के चरणों में झुक जाता है।

परम पूज्य आचार्य श्री ने संयोजन का कार्य जो मुझे देकर माँ जिनवाणी की सेवा का अवसर प्रदान किया उसके लिए मैं अत्यंत अनुग्रहित हूँ। मैं आपके उभय रत्नत्रय-सम्यकदर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि की निरन्तर कामना करता हूँ।

पूर्वाचार्यों के चिंतन के आधार एवं मान्य आगम और आध्यात्मिक ग्रन्थों के उदाहरणों से आचार्य श्री ने शुद्धोपयोग विषयक हम सभी की भ्रान्ति का निराकरण किया। अतः आचार्य श्री १०८ विरागसागर जी महाराज के चरणों में विनम्र त्रिकाल नमोस्तु निवेदन करता हूँ। मंगलं भूयात्।

प्राचार्य
श्री शांति निकेतन जैन संस्कृत विद्यालय,
कटनी (म.प्र.)

जिनवाणी का विनम्र सेवक
पं. पदमचन्द्र जैन
सिद्धांत शास्त्री

आद्यमिताक्षर

शुद्धोपयोग का प्रथम संस्करण सुधीजनों में इतना समाहत हुआ कि अत्यल्पकाल में ही इसकी समस्त प्रतियां समाप्त हो गईं और यह काफी समय से अनुपलब्ध होने से स्वाध्यायशील श्रावकों की बैचेनी को भी बढ़ाने लगी - जिससे इसके पुनः प्रकाशन का निर्णय विद्यापीठ ने लिया। यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि इसका यह संशोधित तथा परिवर्द्धित **द्वितीय संस्करण** पाठकों के हाथों मे धर्मप्रभावना की भावना से पुनः समर्पित है। इसमें देश के सहस्त्रों विद्वानों द्वारा प्राप्त सुझाव-संशोधन आदि का समुचित उपयोग कर कृति को पूर्णता प्रदान करने का प्रयास किया है। आगे भी विद्वज्जनों के जो भी सुझाव होंगे उनका हम बराबर समादर कर उपयोग करेंगे।

वस्तुतः इसके प्रकाशन में विलम्ब का मुख्य कारण विषय वस्तु की जटिलता, तदनुरूप प्रमाणों की खोज-बीन, तथा देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार भौतिक कठिनाइयों की प्रचुरता भी एक अंग के रूप में सदैव रही है। पूज्य आचार्यश्री जी की जैन आगमोक्तश्रमण चर्या, सत्साहित्य का अध्ययन, मनन, चिंतन-लेखन तो अन्य आनुषंङ्गी कारणों में स्वतः समाविष्ट हैं। पर यह संतोष की बात है कि विषयवस्तु-बिन्दुवार सैटिंग तथा आगमोक्त प्रमाणों का यथायोग्य संयोजन होने से प्रस्तुत संस्करण सुविज्ञ पाठकों के साथ जनसामान्य के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

शुद्धोपयोग की विषयवस्तु को शब्द संरचना में संघटित करना जब इतना क्लिष्ट है तब उसकी प्राप्ति कितनी कठिन न होगी, पाठक स्वयं इसे पढ़कर जान सकेंगे। लेखक तो योगी ठहरे, यह तो उनके लिए सदैव अनुभवगम्य रहा ही है - शब्दगम्य तो उन्होंने मात्र साम्पन्य जिज्ञासुओं की भावना को ध्यान में रखकर बताया है। यह उनका हम पर महान उपकार है जिसके लिए हम सभी उनके कृतज्ञ रहेंगे। देश के अनेक विद्वानों ने अपने समीक्षात्मक सुझाव भेजे उनमें से कतिपय ही यहां प्रकाशित किये जा सके हैं - जिनका इस संस्करण में समावेश नहीं हो सका, उन सभी से हम क्षमाप्रार्थी हैं तथा अनुरोध है कि आप सभी अपनी सम्मति अवश्य विद्यापीठ के पते पर भेज कर हमारा मार्गदर्शन करें जिससे आगामी समय में उनका लाभ उठाया जा सके।

प्रस्तुत संस्करण के पुण्यार्जक श्रीमान् भागचंदजी कलकत्ता (पं. बंगाल) का भी विद्यापीठ साधुवाद करती है जिनके प्रयास से यह कृति पाठकों के हाथों तक शीघ्रता से पहुंच सकी। भविष्य में भी जिनवाणी की प्रभावनाकार्य में आपकी प्रबल भावना बनी रहेगी, ऐसी आशा है।

इसके मुद्रण में श्रीमान सेठ गुलजारीलाल जैन, रफीगंज (झारखंड) का सहयोग सदैव अविस्मरणीय रहेगा अन्यथा यह काल की अनन्त सीमा को स्पर्श करती हुई हमारे धैर्य को न जाने कब तक तौलतरी रहती। संतोष की बात है - भिलाई से सहेजा कार्य नागपुर में शीघ्रता से पूर्ण हुआ। अंत में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में अनेक लोगों का सहयोग प्राप्त हुआ उनके प्रति भी हम कृतज्ञ भावना से आभार व्यक्त करते हुए भविष्य में भी सहयोग की आकांक्षा करते हैं। परोपकाराय सतां विभूतियः की मंगलमयी भावना के साथ पाठकों के हाथों में मूल्यांकन हेतु यह संस्करण समर्पित है - क्योंकि उनका उत्साह ही हमारा संबल है जिसे पाने की हमारी दिली तमन्ना सदैव रही है।

आषाढ़ी आह्निका
सन् २००४

वीरेन्द्रकुमार जैन
अध्यक्ष
सम्यग्ज्ञान दिगंबर जैन विराग विद्यापीठ
बताशा बाजार, भिण्ड (म.प्र.)

दो शब्द

यहाँ जो शंकाएँ हैं वे हमारी और अपनी हैं, किन्तु समाधान आगम के हैं। पढ़ने के पूर्व आवश्यक है कि हम पूर्वाग्रह से मुक्त हो पूर्णत: स्वस्थ एवं हलके हो जाये। भले ही वैचारिक मतभेद हो, पर मन-भेद न रहे। अन्यथा समाधान समझ में नहीं आयेगा। एकमात्र कषाय, विद्वेष एवं कलह भावनाएँ ही प्रतिलक्षित होंगी, सत्य नहीं। तथा वैचारिक मतभेद भी जिज्ञासात्मक हों, पंथ, पक्ष, आदि में दुराग्रहात्मक न हों अन्यथा वह भी मन-भेद ही कहा जायेगा।

वैचारिक मतभेद यदि यही तक है तो जिज्ञासाभाव संभव है, समाधान संभव है, और उसे समझना भी सरल है, इसमें भगवतवाणी की, धर्म की, गुरुओं की एवं अपनी भी गरिमा कायम रहती है, आपसी प्रेम मर्यादाएँ एवं भाषा तथा व्यवहार में मृदुता बनी रहती है। ऐसा रहने से भले ही समाधान से तात्कालीन समाधान मिल जाये या नहीं भी, तो भी भविष्य में गुंजाइश बनी रहती है और फिर समाधान के पश्चात् जगता है अपूर्व उपकार। दो स्वतंत्र्य विचारों का एक निर्णायक समाधान देनेवाला जैनाचार्य प्रणीत आगम होता है जिसमें जब पूर्णत: स्पष्ट समाधान मिलते हैं तो फिर ज्ञानी अपनी स्वतंत्र विचारधारा को कोई शेष स्थान नहीं रहने देते हैं। अत: शास्त्र देखकर उन्हें उसी में की जिन-जिनागम व जिनगुरु व जिनधर्म का सम्मान करने के साथ सम्यक् मुमुक्षुपणा एवं भव-भीरुता प्रतिलक्षित होती हैं। आगम के स्पष्ट प्रमाण मिल जाने पर फिर शंका का कोई भी स्थान नहीं रहता और न ही फिर अपने स्वतन्त्र मत को येन केन प्रकारेण सिद्ध किया जा सकता है फिर तो आगम सूत्रों (वाक्यों) को दोष श्रद्धापूर्ण पूर्वाग्रह विनीत भाव से छोड़ना ही चाहिए अन्यथा

सुत्तादो जं सम्मं दर सिज्झंति जदाण सद्दहदि
सो चेव हवई मिच्छा इट्ठी जीवो तदो पहुदि (गो.जी. मूल गा. २९)

अर्थात् सूत्र यानि आगम को देखकर तथा समझाये जाने पर भी यदि पूर्वाग्रह को नहीं छोड़ता है तो वह जीव उसी समय से मिथ्यादृष्टि कहलाता है। अत: हे भव्यो, जिनागम के रहस्य को सम्यक् प्रकार सें पढ़ो जानों समझो और उसी रूप श्रद्धा करो ये ही जिनागम की भक्ति है। यदि इस में जो कुछ त्रुटि हो तो वह मेरी है तथा समाधान जिनागम के हैं, विद्वत गण, साधु जन त्रुटियों को जरूर अवगत करायेंगे। ऐसी हम अपेक्षा रखते है।

मुकुट सप्तमी वी. नि. सं. २५३०

आचार्य विरागसागर

वर्षायोग, कारंजा (लाड) (महा.)

प्रस्तावना

परमपूज्य आचार्य विरागसागरजी महाराज न केवल अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी एवं प्रखर तपस्वी युवामुनि हैं, अपितु उन्होंने भिलाई-चातुर्मास में अपहरण का घोर उपसर्ग क्षमाभावपूर्वक सहन कर उपसर्गविजेता की ख्याति भी अर्जित की है।

आचार्यश्री की लेखनी से अनेक ग्रंथ प्रसूत हुए हैं, जिनमें शुध्दोपयोग नवीन कृति है। शुध्दोपयोग मोक्ष का निश्चय मार्ग है, किन्तु शुभोपयोगरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का अवलम्बन किये बिना उसकी सिध्दि असंभव है। आचार्य अमृतचंन्द्र सूरि ने तत्त्वार्थसार में कहा भी है-

निश्चयव्यवहाराभ्यांमोक्षमार्गो व्दिधा स्थित:।
तत्राद्य साध्यरूप: स्याद् व्दितीयस्तस्य साधनम्॥

अर्थ -निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा मोक्ष मार्ग के दो पक्ष हैं। इनमें निश्चयपक्ष साध्य है और व्यवहारपक्ष उसका साधक।

तात्पर्य यह कि निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्ष मार्ग में साध्यसाधकभाव है। मोक्ष के साधक को पहले शुभोपयोगरूप व्यवहारमोक्षमार्ग का ही अवलम्बन करना पडता है। उसके अभ्यास से साधक शुभोपयोग की उस चरम सीमापर पहुँच जाता हैं, जहाँ पहुँचकर उसमें शुध्दोपयोग के अवलम्बन की सामर्थ्य आ जाती है। वहाँ पहुँच कर वह शुध्दोपयोग का अवलम्बन करता है, तब शुभोपयोग स्वत: छूट जाता है। इस प्रकार शुध्दोपयोग रूप निश्चय मोक्षमार्ग पर चलने की योग्यता हासिल करने के लिए व्यवहार मोक्षमार्ग अत्यन्त उपादेय है।

इन दोनों प्रकार के मोक्षमार्गों का सफलतापूर्वक अवलम्बन तभी हो सकता है, जब इनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो। व्यवहारमोक्षमार्ग के विषय में तो श्रावकों को अधिक भ्रांतियाँ नहीं हैं, किन्तु शुध्दोपयोगरूप निश्चयमोक्षमार्ग के विषय में अधिकांश श्रावकों की बुध्दि भ्रान्तियों से ग्रस्त है। इन भ्रान्तियों को दूर करने तथा निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग के पारस्परिक साध्यसाधकपना को हृदयंगम कराने के प्रयोजन से आचार्यश्री ने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की है, जो भव्यों के लिए स्वागत योग्य है।

ग्रंथलेखक ने शुध्दोपयोग शब्द का व्याकरणिक विश्लेषण कर उसके अर्थ को बुध्दिगम्य बनाने का प्रयास किया है। योग और उपयोग की कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता के अनेकान्त पर भी समीचीन प्रकाश डाला है।

उनके लक्षणों और भेदों की भी विस्तार से मीमांसा की है। उपयोग के ज्ञानदर्शनात्मक तथा अनुष्ठानात्मक दोनों रूपों का खुलासा किया गया है। वस्तु तत्त्व के निरूपण की आगमशैली और अध्यात्मशैली का दिग्दर्शन कर दोनों के द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप में अविरोध की प्रतीति करायी गयी है। आगमनयों और अध्यात्मनयों के बहुभेदों को सारिणी में निबध्द कर एक दृष्टि में हृदयंगम बनाने का प्रयास मनोवैज्ञानिक है। इन नयों के सोदाहरण लक्षण प्रतिपादित कर जिज्ञासुओं का महान् उपकार किया गया है।

ग्रंथकर्ता आचार्यश्री ने पुण्य की हेयोपादेयता और उसके मोक्षोपयोगी फलों की भूमिका रेखांकित कर पुण्य के प्रति जो ऐकान्तिक घृणा उत्पन्न की जा रही है, उसका सफलतापूर्वक निराकरण किया है। प्रवचनसार की नौवीं गाथा की तात्पर्यवृत्ति के आधार पर विभिन्न गुणस्थानों में अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुध्दोपयोग के स्वामियों का वर्णन कर इस भ्रान्ति का उन्मूलन किया है कि चतुर्थ गुणस्थान में भी शुध्दोपयोग होता है। शुध्दोपयोग केवल श्रमणं को होता है, वह भी सप्तम गुणस्थान से आरम्भ होता है।

आचार्यश्री ने समयसार और प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्तियों के आधार पर यह बात भी स्पष्ट की है कि कदाचित् मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी के मन्दोदय में मिथ्यादृष्टि जीव भी शुभोपयोग परिणत होता है। उसका शुभोपयोग भोगाकांक्षानिदानपूर्वक भी होता है और सम्यग्दर्शन तथा मोक्ष की आकांक्षापूर्वक भी, मिथ्यादृष्टि आखिर शुभोपयोग के व्दारा ही तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करता है।

आचार्य विरागसागर जी ने आचार्य अमितगति के इस कथन की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि शुभ और अशुभ उपयोग से ही जीव के योग शुभ-अशुभ होते हैं, अत: ऐसा कभी नहीं हो सकता कि जीव का उपयोग तो अशुभ हो, किन्तु योग शुभ हो। (योगसार, श्लोक ३/१)।

इस प्रकार प्रस्तुत शुध्दोपयोग ग्रंथ योग और उपयोग, शुभोपयोग और शुध्दोपयोग तथा निश्चय और व्यवहार के विषय में प्रचुर जानकारियों से भरा हुआ है। ग्रंथ की रचनाकर आचार्य श्री ने मुनियों और श्रावकों का बड़ा उपकार किया है। ग्रंथ श्रध्दापूर्वक पठनीय है। नमोऽस्तु !

प्रो.रतनचंद जैन
अ/२ मानसरोवर, शाहपूर,
भोपाल (म.प्र.)

.....सुवृत्तं ग्राह्यं.....

आखिर परिणाम तो दोनों का समान है। पाइये या खाईये। मादकता ही उसका प्रतिफल है। कनक को महिमा मंडित करने के लिए उसकी इतनी विशेषता पर्याप्त है। कनक (स्वर्ण) को पानेवाला विवेक शून्यता के शिखर पर पहुंचकर मद से कुचालें भरने लगता है तो खाने वाला (कनक = धतूरा) उन्मत्तताकी गलबहियां.....करके बेहोशी के अंक में समाजाता है। तो क्या इस भयसे इनका परित्याग कर दिया जाय ? कवि के शब्दों में तो कुछ ऐसा ही है।

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
जा पाये वौरात नर वा खाये मदछाय॥

लेकिन विवेक बुध्दि का तकाजा है कि जीवन की सार्थकता के हित में इनका परिष्कृत रूप में प्रयोग तो किया ही जा सकता है। औषधीय प्रयोग से जीवन रक्षा तथा जनकल्याण परमार्थ में धन का विनियोजन करके इसके मादकता के कलंक को धोया जा सकता है। हमारे जीवन को संतृप्त करने वाली एक कनक (अनाज चूर्ण) भी तो है। क्यों न कनक को कनक का रूप प्रदान कर समाज और राष्ट्र को संतृप्ति के रूप में उसे हम बदल लें। हां, ऐसा करने की हमारे मन में अदम्य जिजीविषा होना चाहिए। समाज के गौरव बाल मन अपने अंकुरण के पोषक तत्त्व के रूप में विवेक बुध्दि का प्रयोग करते हुए हिताहित की सटीक पहचान कर सकें और सांस्कृतिक विकृति के वातावरण में कनक को कनक के रूप में धर्म शब्दावलियोंको दया क्षमा और समता के रूप में ग्रहणकर समाज एवं राष्ट्र की सुवासित बगिया बन जांय इसी पवित्र भावना से प.पू. आचार्य श्री विरागसागरजी महाराजने सर्व जनहितार्थ की भूमिका के रूप में अभी तक पचास से अधिक पुस्तकें लिखकर हमें संबल प्रदान किया है। बाल विज्ञान, चैतन्य चिंतन, सम्यग्दर्शन आदि पुस्तकें जो प्राथमिक अभ्यासीजनों को अमृत तुल्य हैं तों शुध्दोपयोग, कर्म विज्ञान जैसे आगम नवनीत भी प्रबुध्दजनों के हितार्थ प्रस्तुत हैं। आशा है आबाल वृध्द सभी पूज्य आचार्य श्री जी की लेखनी से प्रसूत आत्मविशुध्दकारी पुस्तकों का सम्यक् अध्ययन कर धर्म मर्यादाओं को भलीभांति जानकर तदनुरूप अपने आचरण से समाज और राष्ट्र के शिरमौर बनकर आज के विषाक्त वातावरण को सुवासित कर सकेगें, साथ ही, अपने जीवन को कनक के

मादक अर्थ से सदैव बचाते रहेगें। यदि किञ्चित् भी ऐसा हो सका तो समझना की कनक कि सार्थक व्याख्या करने में वीर प्रभुकी देशना काम आई।

कनक कनक ते सौ गुना फल दायक उपकार ।
वीर प्रभु की देशना जग जन हित उपहार।

शुध्दोपयोग का यह द्वितीय संशोधित संस्करण आत्मार्थी पाठकों के हाथों में समर्पित है। इसमें जिज्ञासुओं के मन में उभरती शताधिक शंकाओं का आगम सम्मत समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य श्री जी ने शास्त्राभ्यासियों को चिन्तन परक नई दिशा प्रदान करने की चेष्टा की है। अब उनके मूल्यांकन में छिपी प्रेरणा शक्ति ही हमारा भविष्य का मार्ग प्रशस्त करेगी। अलवत्ता दृष्टिकोण पूर्वाग्रह से उन्मुक्त अवश्य हो, ऐसी आशा है। योगीजनों द्वारा अनुभवगम्य विषय वस्तु को वाणी प्रदान करने का यह अल्प प्रयास सद्मार्ग अन्वेषकों को किञ्चित् भी प्रकाश पुंज का काम कर सका तो समझेंगे कि हमारा यह प्रयास सार्थक हुआ।

इसे पाठकों तक पहुँचाने में मुद्रक प्रकाशक तथा पुण्यार्जक भव्य बन्धुओं का अविस्मरणीय सहयोग सदैव साधुवाद का पात्र रहेगा। पाठकों के चिर ऋणी तो हम हैं ही, हर कदम पर वे हमारे संबल ठहरे।

सुवृत्तं ग्राह्यं-गुण ग्रहण करने की हमारी नीति भी उन्हीं की देन है.. अस्तु।

गुरुचरणसेवक
धन्यकुमार राजेश
पर्युषण पर्व, वी.नि.सं. २५३०

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
नर पायें तें वौरात है, वा खाये ते वौराय॥

विनयांजली

मेरे-जीवन की दिशा एवं दशा बदलने में परमपूज्य दिगम्बर जैन मुनिराजों का महत्वपूर्ण-योगदान रहा है। मेर प्रबल पुण्य योग से परम पूज्य मुनिराज के आशीर्वाद -प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से ही मैं अभी ७१ वर्ष की आयु में सभी स्वस्थ-समर्थ-एवं समृद्धि के मार्ग पर-अग्रसर हूँ। कोई कल्पना भी नहीं करता था, जन्मना स्वाँस का रोगी-जिसके वलगम (कफ) में खून तक आने लगा था जर्जर शरीर एवं भरपूर कमजोरी से छुटकारा पाकर इतनी लम्बी आयु पा सकूंगा। इसीलिए प्रति दिन प्रातः उठते ही अनायास ''णमोलोए सव्व साहूणम्'' का उच्चारण करता हूँ। मेरी श्रध्दा जन्म जन्मांतर में मुनिराजों के प्रति बनी रहे एवं मै स्वयं भी मुनिव्रत धार सल्लेखना धारण कर शाश्वत् सुख की ओर अग्रसर होऊँ

विनीत

गुलजारीलाल जैन, रफीगंज

(बिहार)

विषय सूची

पृष्ठ

१. **शुद्धोपयोग का व्याकरण :** १

शब्द सिद्धि

२. **योग और उपयोग :** १-५

भेद-प्रभेद, योग-उपयोग की भिन्नता, योग की परिभाषा, करण अर्थ में उपयोग, निमित्त अर्थ में उपयोग, आलम्बन अर्थ में उपयोग, योग की युगपत्प्रवृत्ति, गुणस्थानों में प्राप्ति

३. **आगमिक उपयोग के भेद प्रभेद :** ६-७

दर्शनोपयोग के चार भेद

ज्ञानोपयोग के आठ भेद

संसारी जीवों में उपयोग (चार्ट)

४. **आध्यात्मिक उपयोग** ८

५. **उपयोग के भेद एवं स्वरूप** ९

६. **आगम एवं अध्यात्म भाषा** ९

१. आगम और आगम भाषा ९

२. अध्यात्म और अध्यात्म भाषा १०

३. भाषा और नय में अंतर ११

४. आगमिक और आध्यात्मिक नयों में अंतर ११

५. नय वर्गीकरण चार्ट १२

६. नय लक्षण भेद का विहंगावलोकन १२

७. **आगमिक नयविषयक विवरण** १३

द्रव्यार्थिक नय एवं भेद १४

पर्यायार्थिक नय एवं भेद १६

८. **आध्यात्मिक नयविषयक विवरण** १८

१. निश्चयनय एवं भेद - शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय १९-२०

२. व्यवहारनय एवं भेद २१

सद्भूत व्यवहार नय (शुद्ध सद्भूत, अशुद्ध सद्भूत) २२

असद्भूत व्यवहारनय (उपचरित, अनुपचरित) २३-२६

९. **सौगत मत की व्यवहार संबंधी शंका का परिहार** २७

१०. **अशुभोपयोग** २८

११. **शुभोपयोग** २९

जिनागम में दो प्रकार का शुभोपयोग ३२

१. मुक्तिहेतुक, २. पुण्यबंधक

१२. धर्मध्यान और शुभोपयोग ... ३२
प्रशस्त राग से शुभास्रव ... ३३
शुभयोग से संवर निर्जरा ... ३४
मोक्षहेतुक शुभोपयोगी पुण्य आचरणीय ... ३६
पुण्य का फल ... ३६
मिथ्यात्व पूर्वक पुण्य हेय ... ३८
१३. पुण्य की निषेधात्मक धारणा का खुलासा ... ३८
१४. शुद्धोपयोग ... ४१
लक्षण - परिभाषा एवं गुणस्थान क्रम से पात्रता ... ४१
अभिमुख शब्द का खुलासा ... ४३
१५. गुणस्थानों में उपयोग ४४
१. प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व में शुभाशुभ उपयोग ... ४४
२. द्वितीय तृतीय गुणस्थान में अशुभ की न्यूनता ... ४६
३. गुणस्थान ४-६ में निर्वाणहेतुक शुभोपयोग ... ४६
४. पंचम गुणस्थान में उपयोग का स्पष्टीकरण ... ४७
५. शुद्धोपयोग श्रावकों को नहीं ... ४७-
निरावलंब ध्यान के निषेधात्मक करणों का खुलासा ... ५०
६. प्रमत्त विरत गुणस्थान ... ५२
७. सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान की विशेषता ... ५३
१६. शुद्धोपयोग के नामान्तर तथा स्वामी ... ५४-५५
१७. सप्तम गुणस्थान में शुभोपयोग तथा धर्मध्यान ... ५७
आचार्य कुंदकुंद एवं आचार्य जयसेनजी का मत ... ५७
स्वस्थानप्रमत्त-सातिशयप्रमत्त के श्रेणी आरोहण वावत विवेचना ... ५८
गुणस्थान ४, ५, ६ में शुद्धोपयोग नहीं ... ५९
१८. अप्रमत्त गुणस्थान में वीतराग धर्मध्यानात्मक शुद्धोपयोग ... ६०
वर्तमान पंचम काल में संहनन का अभाव होने से
वीतराग शुक्ल ध्यान का निषेध तथा मोक्ष का अभाव ... ६१
१९. उपशम-क्षपक सयोगकेवली अयोगकेवली के ध्यान एवं
चारित्र का विवेचन ... ६३
२०. उपसंहार : ... ६४-६५
वर्तमान में आचरणीय मार्ग पर चलने की प्रेरणा

ॐ

शुद्धोपयोग

आज किसी भी स्वाध्यायी से यह तथ्य छिपा नहीं है, कि किसी भी संसारी प्राणी की पंच परावर्तन रूप कर्मबन्धन की समाप्ति श्रमण परंपरा में उपदिष्ट व्यवहार मोक्ष मार्ग का अवलम्बन किये बिना त्रिकाल में भी संभव नहीं है तथा जिसके मूल में निश्चय मोक्ष मार्ग स्वरूप शुद्धोपयोग की मुख्य भूमिका है। बिना शुद्धोपयोग के कोई भी भव्य प्राणी मुक्त नहीं हो सकता। वर्तमान में शुद्धोपयोग की जितनी चर्चा है उतनी ही तद्विषयक भ्रांतियां भी हैं। अतएव उसके सही स्वरूप को जानने समझने की महान् आवश्यकता है, क्योंकि अपूर्णज्ञान से स्व-पर अहित की बलवती संभावना प्रतिपल बनी रहती है। इसी बात को लेकर शुद्धोपयोग के संबंध में प्रचलित अनेक भ्रांतियों का निराकरण करते हुए उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन यहां किया जा रहा है।

शुद्धोपयोग का व्याकरण :-

शुद्धोपयोग शब्द कर्मधारय समास से सिद्ध पद है यह समस्त विशेषण और विशेष प्रधान शब्दों में (पदविषयक तुल्याधिकरण में) होता है अतः शुद्धः उपयोगः इति शुद्धोपयोगः यह पद कर्मधारय समास से सिद्ध पद है।[१] गुणसंधि होने पर (शुद्ध + उपयोग) शुद्धोपयोग पद बन जाता है।

शब्द सिद्धि :-

शुद्धोपयोग में शुद्ध शब्द-निर्मल, पवित्र, असली, सार, निर्दोष, मलातीत, सत्य, स्वच्छ अर्थ को प्रकट करता है तथा उपयोग शब्द का आगमिक अर्थ है जीव का अनुविधायी परिणाम और आध्यात्मिक अर्थ है परिणति या अनुष्ठान। उपयोग शब्द भी दो पदों से मिलकर बना है उप + योग - यह भी कर्मधारय समास प्रधान शब्द है।

योग और उपयोग :-

शास्त्रों में उपयोग यह एक पदात्मक शब्द है (उप+ योग) जिसका अर्थ है योग के समीप या निकट। आगम ग्रंथों में भी योग अनेकार्थवाची है (१) यथा वर्षायोग, वृक्षमूलयोग आतापन योग, अभ्रावकाशयोग. ये सभी साधना प्रधान होने से आचार मूलक हैं। इस

---

१. पदे तुल्याधिकरणे विज्ञेयः कर्मधारयः। ४३१।
यस्मिन समासे द्वे पदेतुल्याधिकरणे भवतः स कर्मधारयो भवति भिन्नप्रवृत्ति निमित्तयोः शब्दयोरेगाधिकरणे समावेशस्तुल्याधिकरणम्। कातंत्र व्याकरण पेज ४११ टीका

योग से ही योगी शब्द की सिद्धि होती है।[२] (२) कर्मयोग कर्मास्रव में कारण भूत क्रिया है इसे योग कहते है।[३] यह योग आत्मप्रदेशों में परिस्पंदन (कंपन) हलन-चलन उत्पन्न करता है जिससे विस्रसोपचय रूप कार्माणवर्गणा कर्म रूप से परिणित होती है, इस क्रिया विशेष से नवीन कर्मों का आस्रव (आगमन) होता है। इस योग का मुख्य कारण मन वचन काय की प्रवृत्ति है। कारण में कार्य का उपचार करने से मन वचन काय की भी योग यह संज्ञा हो जाती है। तथा प्रत्येक को पृथक्-पृथक् रूप से योग मानकर उसके भेद प्रभेद भी कहे गये हैं।

यथा मनोयोग, वचनयोग, काययोग, (मन के निमित्त से, वचन के निमित्त से, काय के निमित्त से होने वाले आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन) तथा उत्तर भेद सहित इनके 15 भेद हो जाते हैं (सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग अनुभय मनोयोग, सत्य वचन योग, असत्य वचन योग, उभय वचन योग, अनुभय वचनयोग) काययोग के सात प्रकार :- औदारिक काय योग, औदारिक मिश्र काययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियक मिश्र काययोग, आहारक काय-योग, आहारक मिश्र काययोग, कार्माण काययोग) तथा उत्तरोत्तर भेद विस्तार से असंख्यात हैं। जिन्हें करणानुयोग से जानना चाहिए।

यहां विशेष रूप से जिज्ञासु पाठकों के मन में योग और उपयोग की अत्यंत भिन्नता अथवा उनके चेतन अचेतन होने के संबंध में प्रश्न उठना स्वाभाविक है जिसका समाधान इस प्रकार है :-

योग और उपयोग भिन्न हैं एक नहीं, क्योंकि उपयोग संपूर्ण संसारी व सिद्ध जीवों में तथा अयोग केवलियों में पाया जाता है किन्तु योग सभी के नहीं है, उपयोग जीव का स्वभाव है। संसारी जीवों की अपेक्षा यह भिन्नता सर्वथा नहीं है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है - उपयोग चेतन तथा योग अचेतन है, ऐसा भी सर्वथा नहीं है क्योंकि आगम में आत्मप्रदेशों के संकोच (सिकुड़ना) विकोच (फैलना) की योग संज्ञा है[५] यह योग विकारी आत्मा का परिणामनरूप चेतन है तथा इसमें कारण भूत पौदगलिक मन वचन कार्य अचेतन परिणाम है।

२. ज्ञा. सा. / ४
३. त. सू. ६/१, २
४. किं जोगोणाम ? जीवपदेसाणं परिप्फंदो संकोच विकोच भ्रमणसरूवओ - **धवला**, भाग १०, ४, २, १७५ पृष्ठ ४३७, पं. ७.
५. मण वयण काय पोग्गलालंवणेण जीव पदेसाणं परिपप्फंदो **धवला** पु.७, २, १, १५, १७।१० अथवात्म प्रदेशानां सङ्कोचविकोचो योगः। **धवला** पु.१-१,१,४ पृष्ठ १४१, पंक्ति २

प्रश्न : यदि आत्म प्रदेशों के परिस्पंदन को योग कहते हो तो अयोग केवली जिन संपूर्ण कर्मक्षय कर गुणस्थानातीत स्थिति में जब लोकाग्र की ओर जाते हुए अविग्रह गति को प्राप्त होते हैं तो उनके भी आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन पाया जाना चाहिए ?

उत्तर : जीवों के गमन काल में आत्मप्रदेशों के संकोच, विकोच का नियम नहीं है क्योंकि सिद्ध होने के प्रथम समय में यह जीव यहां से लोकाग्र शिखर पर जाकर विराजमान हो जाता है। इस काल में उनके आत्मप्रदेशों में परिस्पंदन का अभाव है योग का अभाव होने से अर्थात् उनके योग नहीं होता।[६]

प्रश्न : उनमें संकोच विकोच न सही किन्तु क्रिया तो पायी जाती है अतः योग मानना चाहिए अथवा आत्मप्रदेश परिस्पंदन को योग मानने से शरीरी जीव अयोगी अवस्था को कभी प्राप्त नहीं हो सकेगा. उसके अक्रिय मानने में विरोध आता है।

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, अष्ट कर्म से मुक्त होने की दशा में जीव की ऊर्ध्वगमन क्रिया तो उसका स्वाभाविक गुण है। यह प्रवृत्ति कर्मोदय के बिना है। विशद रूप से ऐसा कहा जा सकता है कि स्व स्थित प्रदेशों को न छोड़ते हुए या छोड़कर जो जीव द्रव्य का अपने अवयवों द्वारा जो परिस्पंदन होता है वह अयोग है। यह कर्मक्षय से स्वतः उत्पन्न होता है, अतः सक्रिय होते हुए भी शरीरी जीव अयोगी सिद्ध होते है उनके प्रदेशों में उद्वर्तन परिवर्तन रूप क्रिया का अभाव है।[७]

प्रश्न : लेकिन आगम में मन वचन काय के कर्म को भी तो योग कहा जाता है ?

उत्तर : हां, जहां कारण में कार्य का उपचार किया जाता है वहां पर पौद्गलिक मन वचन काय के कर्म को भी योग कहा जाता है, जो उपचार मात्र है वास्तविक नहीं।[८]

प्रश्न : उपचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्ते संबंधाविना भावः[९] अर्थात् मुख्य के अभाव में प्रयोजन या निमित्त के होने पर प्रवृत्त होता है उसे उपचार कहते हैं और वह प्रयोजन कार्य कारण या निमित्त नैमित्तिकादि भावों में

६. धवला ७-२, १, ३३, ७७।२
७. धवला ७-२, १, १५, १७।१० ७-२, १, १५, १७।१०
८. काय वाङ्मनः कर्मयोगः। - तत्त्वार्थ सूत्र ६/१
९. आलाप पद्धति सूत्र - ९

अविनाभाव संबंध ही है। अथवा कार्यगत धर्म का कारण में और कारण गत धर्म का कार्य में उपचार जगत में प्रसिद्ध रूप से पाया जाता है।[१०] किन्तु वह उपचार ही है, परमार्थ नहीं, यहां उपचार से मात्र सहकारिता निमित्त है।

प्रश्न : मन वचन काय को ही योग कहा है आप उसे सहकारी कैसे कहते हो ?

उत्तर : संस्कृत व्याकरण में तृतीया विभक्ति (कारक) का नाम करण है[११] जिसका प्रयोग कारण या निमित्त के लिए होता है।[१२] कारण, आलम्बन, निमित्त, ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं। इन तीनों अर्थों में योग का वर्णन शास्त्रों में वर्णित है। **यथा :**

करण अर्थ में योग :

मणसा वाया काएण वा विजुत्तस्स विरिय परिणामो।
जीवस्स (जिह) प्पणिजोगोत्ति जिणेहिं णिदिट्ठो[१३] ॥

उपरोक्त गाथा में मणसा वाया काएण शब्द करण प्रधान होने से करण (ने से के द्वारा) अर्थ निकलता है।

निमित्त अर्थ में योग : "योगो वाङ्मनसकाय वर्गणा निमित्ते आत्म प्रदेशे परिस्पन्दः।"[१४] यहां निमित्त शब्द स्पष्ट है।

आलम्बन अर्थ में योग : "आत्मनो मनो वाक्काय वर्गणालम्बन प्रदेश परिस्पन्दः उपयोगो योग :"[१५] इस वाक्य में आलम्बन शब्द स्पष्ट है।

अतः यह बात सिद्ध हुई कि मन वचन काय के निमित्त कारण या अवलंब से आत्मप्रदेशों के परिस्पंदन को योग कहते हैं. मन वचन काय पौद्गलिक है; इसका स्पष्ट उल्लेख आचार्य श्री वीरसेनाचार्य ने धवला टीका में किया है :-

---

१०. इह खलु पौद्गलिक कर्मणः स्वभावादनिमित्त भूते ऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्त भूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्ती भूते सति संपद्य मानत्वात् पौग्दलिकं कर्मात्मना कृत मिति निर्विकल्प विज्ञानघन भ्रष्टानां विकल्प परायणानां परेषामस्ति विकल्प : । स तूपचार एव न तु परमार्थ : । – **समयसार**, गाथा १०५ टीका
कार्य कारणोपचारस्य जगति सुप्रसिद्धस्योपलम्भात्।
धवला पु.१, १,४, पृ. १३६-३७ पंक्ति ९

११. साधक तमं करणं
१२. दिवः कर्मच। ३८८। येन क्रियते तत्कारणम्। ३८७
तृतीया सहयोगे। ३८८, हेत्वर्थे। ३९० – **कांतत्र व्याकरण**
१३. पं.सं. १/८८
१४. स. सि. ६/१
१५. रा. वा. ९/७/१२, ६०३/३४

मणवयण काय पोग्गलालंवणेण जीव पदेसाणं परिपप्फंदो (जोगो)[१६] इस प्रकार सिद्ध हुआ कि योग कथंचित् चेतन है तो कथंचित् अचेतन पौद्गलिक है अतः उपचार करने पर उनकी (मनवचन काय) योग यह संज्ञा हो जाती है और उनके मुख्य तीन भेद हो जाते हैं।[१७] विस्तार से तीनों के 15 भेद होते हैं। (4+4+7) अनेक भेद होने पर भी एक जीव के एक साथ एक ही योग पाया जाता है।[१७]

प्रश्न : क्या एक जीव के एक ही समय में योगों सी युगपत् प्रवृत्ति होती है या नहीं ?

उत्तर : नहीं, युगपत् प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि एक आत्मा में तीनों योगों की युगपत् प्रवृत्ति मानने से योगनिरोध का प्रसंग उपस्थित होता है अर्थात् किसी भी आत्मा में योग की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

प्रश्न : किन्हीं को मन वचन काय की युगपत् प्रवृत्तियां भी देखी जाती है ?

उत्तर : यदि देखी जाती है तो उनकी युगपत् प्रवृत्ति भले होवे परंतु युगपत् प्रवृत्ति के लिए जिस प्रयत्न की धारणा है उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। आगम में ऐसा उपदेश भी उपलब्ध नहीं है। अर्थात् युगपत् प्रवृत्ति की संभावना के बावजूद युगपत् प्रयत्न नहीं होता है।

प्रश्न : प्रयत्न बुद्धिपूर्वक होता है और बुद्धि मनोयोग पूर्वक होती है, ऐसी परिस्थिति में मनोयोग शेष योगों का अविनाभावी है यह बात सिद्ध हो जानी चाहिए।

उत्तर : नहीं, क्योंकि कार्य और कारण इन दोनों की एक ही काल में उत्पत्ति संभव नहीं है।[१८] अतः मनोयोग पूर्वक शेष योग होते हैं, ऐसा कथन युक्ति संगत नहीं है। इससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय (असैनी) तक के जीवों में योग अभाव का प्रसंग आ जाएगा - इन जीवों के मनोयोग का अभाव है।

प्रश्न : योग किन-किन गुण स्थानवर्ती जीवों में पाये जाते हैं।

उत्तर : प्रथम गुणस्थान से लेकर संयोग केवली तेरहवें गुण स्थान तक सभी संसारी जीवों के योग पाया जाता है। अयोग केवली एवं सभी सिद्ध जीवों में योग का अभाव है,[१९] किन्तु उपयोग अवश्य पाया जाता है. अतः योग और

१६. धवला पु. ७/२, १. १५/१७/१०
१७. ष.खं. १/१, १/सू. ४७, ४८ पृ. २७८, २८०
गो.जी.मू. २४२/५०५
१८. कार्य कारणयोरेक काले समुत्पत्ति विरोधात्। धवला पु.१.१,१,४७, पृष्ठ २८२, पंक्ति १
१९. पं.सं./प्रा/५/३२८
त. सू. २/८

उपयोग दोनों अत्यंत भिन्न- भिन्न हैं, एक नहीं। यहां एक बात और स्पष्ट करना आवश्यक है कि उपयोग सभी संसारी और मुक्त जीवों में पाया जाता है। क्योंकि वह जीव का लक्षण है। **(उपयोगो लक्षणम्)**।

उपयोग जीव का लक्षण है,[२०] अतः यह आवश्यक है तत्संबंधी विशद विवेचना प्रस्तुत किया जाय जिससे पाठकों को संपूर्ण विषय बोधगम्य हो सके।

उपयोग शब्द का प्रयोग शास्त्रों में मुख्यतया आगम में जीव के लक्षण अर्थ में तथा आध्यात्म में जीव की शुभ-अशुभ शुद्ध परिणति अर्थ में पाया जाता है। आगम ग्रन्थों में आचार्य श्री उमास्वामी ने "उपयोगो लक्षणम्" सूत्र में जीव लक्षण की विवेचना में उपयोग शब्द का प्रयोग किया है तथा आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थ सिद्धि ग्रंथ में कथन करते हुए चैतन्य के अनुविधायी परिणाम को उपयोग कहा है - "उभय निमित्त वशादुत्पद्य मानश्चैतन्यानु विधायी परिणामः उपयोगः"।[२१] आचार्य श्री अकलंक देव ने तत्वार्थ राजवार्तिक में पदार्थ की परिच्छित्ति रूप परिणाम कि यह घट है, यह पट है, अर्थ ग्रहण रूप व्यापार को उपयोग कह कर परिभाषित किया है।[२२] यह कथन ज्ञान की प्रमुखता से है जो चेतना रूप जीव लक्षण का बोधक है .

आगमिक उपयोग के भेद/प्रभेद : आगम में (1) ज्ञानोपयोग (2) दर्शनोपयोग के रूप से उपयोग के दो भेदों का उल्लेख है[२३] जो (सविकल्प) साकार और निराकार (निर्विकल्प) हैं. जगत के समस्त जीवों में ये दोनों उपयोग पाये जाते हैं. छद्मस्थ को दर्शन पूर्वक ज्ञानोपयोग होता है तथा केवलियों में दोनों उपयोग युगपत् पाये जाते हैं।[२४]

उपयोग के अवान्तर भेद 12 हैं जो इस प्रकार हैं :- दर्शनोपयोग के चार भेद हैं (1) चक्षुदर्शन (2) अचक्षुदर्शन (3) अवधिदर्शन (4) केवलदर्शन[२५]

ज्ञानोपयोग के आठ भेद : (1) मतिज्ञानोपयोग (2) श्रुतज्ञानोपयोग (3) अवधिज्ञानोपयोग (4) मनः पर्ययज्ञानोपयोग (5) केवलज्ञानोपयोग (6) कुमति या मत्याज्ञानोपयोग (7) कुश्रुत या श्रुताज्ञानोपयोग (8) कुअवधि या विभंगावधि ज्ञानोपयोग।[२६] इस प्रकार चार दर्शनोपयोग आठ ज्ञानोपयोग कुल बारह प्रकार का उपयोग होता है।

२०. त. सू. २/८ २१. स. सि. २/८ २२. रा. वा. २/८
२३. द्र. सं. गा. ४ २४. द्र. सं. गा. ४४ २५. द्र. सं. गा. ४
२६. द्र. सं. गा. ५

प्रश्न : क्या उपयोग के ये सभी भेद किसी जीव में पाये जाते हैं ?

उत्तर : नहीं, सभी उपयोग एक साथ किसी भी जीव में नहीं पाये जाते। नाना जीवों की अपेक्षा पर्यायगत योग्यता के आधार से उपयोग घटित होते हैं, इसका विस्तृत कथन इस प्रकार है ...

संसारी जीवों में उपयोग

स्वामी	उपयोग संख्या	चक्षु	अचक्षु	अवधि	केवल	मति ज्ञान	श्रुत ज्ञान	अवधि	मनःपर्यय	केवलज्ञानदर्शनोपयोग	कुमति	कुश्रुत	कुअवधि
1. एकेन्द्रिय	३	-	,,	-	-	-	-	-	-	-	,,	,,	-
द्वि. तीन इंन्द्रिय													
2. चतुरिन्द्रिय	४	,,	,,	-	-	-	-	-	-	-	,,	,,	-
3. असंज्ञी पंचेन्द्रिय	४	,,	,,	-	-	-	-	-	-	-	,,	,,	-
4. संज्ञी पंचेन्द्रिय	४	,,	,,	-	-	-	-	-	-	-	,,	,,	-
(अ) --- गुण 1-3	५	,,	,,	-	-	-	-	-	-	-	,,	,,	,,
(ब) --- --- ---	६	,,	,,	,,	-	-	-	-	-	-	,,	,,	-
5. (अ) --- गुण 4	४	,,	,,	-	-	,,	,,	-	-	-	-	-	-
(ब) --- --- ---	६	,,	,,	,,	-	,,	,,	,,	-	-	-	-	-
6. (अ) --- --- 5	४	,,	,,	-	-	,,	,,	-	-	-	-	-	-
(ब) --- --- ---	६	,,	,,	,,	-	,,	,,	,,	-	-	-	-	-
7. (अ) --- --- 6	४	,,	,,	-	-	,,	,,	-	-	-	-	-	-
(ब) --- --- ---	५	,,	,,	-	-	,,	,,	-	,,	-	-	-	-
(स) --- --- ---	६	,,	,,	,,	-	,,	,,	,,	-	-	-	-	-
(द) --- --- ---	७	,,	,,	,,	-	,,	,,	,,	,,	-	-	-	-
8. सयोग-अयोग केवली	२	-	-	-	,,	-	-	-	-	,,	-	-	-

विशेष : 7-12 गुणस्थान तक उपरोक्त चारों विकल्प यथाक्रम से जानना चाहिए, यहां संक्षेप में लक्षणात्मक उपयोग को बताया गया है, विस्तृत ज्ञान सिद्धान्त ग्रंथों से करें।

यहां उपयोग की विवेचना में मुख्य अभिप्राय उपादेय तत्व को जानना है। निश्चयदृष्टि से आदि अंत रहित परम चैतन्य आत्मा में अनाकुलत्व लक्षण वाला अनंत सुख है (कारणरूप से केवल ज्ञान दर्शन) वही उपादेय एवं श्रद्धेय है।

इसी की प्राप्ति के लिए साधना मार्ग पर अग्रसर सभी भव्य प्राणियों को सतत् प्रयास करना चाहिए।[२७]

आध्यात्मिक उपयोग :

आध्यात्मिक ग्रन्थों में उपयोग की विवेचना शैली में जीव की परिणति एवं अनुष्ठान शब्दों का प्रयोग मिलता है। पारिभाषिक दृष्टि से जीव का जो भाव वस्तु ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है उसकी उपयोग संज्ञा है। ज्ञान दर्शन रूप (जीव के लक्षणात्मक) उपयोग[२८] की विवक्षा पदार्थ के जानने रूप वस्तु के ग्रहण रूप व्यापार को लिया जाता है तथा शुभ अशुभ और शुद्ध इन तीन उपयोगों की विवक्षा में अनुष्ठान/परिणति जानना चाहिए।[२९] अनुष्ठान शब्द अंतरंग चारित्र का वाचक है।[३०] आचार्य ब्रह्मदेव सूरी ने वृहद् द्रव्य संग्रह में निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, अनुष्ठान (चारित्र) शब्द का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि अनुष्ठान शब्द आभ्यंतर आचरण के रूप में ग्राह्य हैं। आभ्यंतर आचरण, परिणाम, परिणति, भाव, सभी शब्द एकार्थवाची हैं।[३१]

उपयोग के भेद एवं स्वरूप :

अनुष्ठानात्मक उपयोग तीन प्रकार का है - 1. अशुभोपयोग 2. शुभोपयोग 3. शुद्धोपयोग।[३२]

शुभाशुभ और शुद्धोपयोग को समझने के पूर्व भाषा और नयों को जानना अनिवार्य है। अतः प्रथम हम इसे ही समझने का प्रयत्न करेंगे।

आगम एवं अध्यात्म भाषा :

वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन में भाषा का विशेष महत्व होता है . आगम और अध्यात्म ग्रन्थों में एक ही विषय वस्तु के संदर्भ में पृथक् 2 शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है जो मात्र शैली का ही अंतर नहीं, किन्तु अर्थबोध में भी अंतर रखता है। ऐसा होनेपर ही आगम और अध्यात्म को समझने में सुगमता हो सकी। अन्यथा उपयोग को समझना असंभव जैसा हो जाता। यद्यपि

---

२७. निश्चय नयेनादि मध्यांतवर्जिते परमानंद मालिनी परमचैतन्य शालिनी भगवत्यात्मनि यदनाकुलत्व लक्षणं पारिमार्थिक सुखं तस्योपादेय भूतस्योपादान कारणभूतं यत्केवलज्ञानदर्शनद्वयं तदेवोपादेयमिति श्रद्धेयं ज्ञेयं तथैवार्तरौद्रादि समस्त विकल्प जाल त्यागेन ध्येयमिति भावार्थः। - **पंचास्तिकाय**, गाथा ५२, टीका ता. वृ. पृ. १०१, पंक्ति ४

२८. त.सू. २/८ २९. वृ.द्र.सं.गा.टी. ६ ३०. वृ.द्र.सं. २/३५

३१. रा. वा. १/१ ३२. भा. पा. गा. ७६

आगम और अध्यात्म दोनों ही जिनवाणी के दो अंग हैं और दोनों ही अपना स्वतंत्र अर्थ भी रखते हैं। परन्तु परस्पर विरोधी नहीं हैं. हां अहमिन्द्र तुल्य अवश्य हैं। यही कारण है कि पूज्य जयसेन आचार्य, ब्रह्मदेव सूरि, पद्मप्रभ मलधारी देव आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में आगम और अध्यात्म को पृथक् 2 रूप में उल्लेख किया है। यथा - आचार्य जयसेनाचार्य कृत पंचास्तिकाय का उल्लेख दृष्टव्य है ....

यः कोऽपि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया मोक्षं वा व्रत तपश्चरणादिकं करोति[३३] ब्रह्मदेव सूरि वृहद द्रव्य संग्रह टीका में लिखते हैं -

''अध्यात्म भाषया पुनः सहज शुद्ध परम चैतन्य शालिनी तावदागम भाषया विचित्र भेदाः कथ्यन्ते''।[३४]

पद्मप्रभमलधारी देव कृत परमात्म प्रकाश में आगम व अध्यात्म दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व बताया गया है :-

ध्यान शब्देन आगमापेक्षया वीतराग निर्विकल्प शुक्ल ध्यानेन अध्यात्मापेक्षया वीतराग **निर्विकल्प।**[३५] आदि वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि अध्यात्म को समझने के लिए दोनों भाषाओं को समझना भी आवश्यक है।

आगम और आगम भाषा :

आगम, सिद्धान्त, प्रवचन आदि शब्द एकार्थवाचक हैं।[३६] फिर भी प्रत्येक का महत्त्व बोध परिस्थिति वातावरण के अनुरूप होता है। आगम शब्द जैन श्रमण परंपरा के साक्षात् भगवान् सर्वज्ञ देव की वाणी से, सूत्र स्पर्शी श्रद्धा से जुड़ा हुआ वर्तमान में साक्षात् ज्ञाननेत्र है जिसमें वीतराग देव द्वारा उपदिष्ट षड् द्रव्य सप्त तत्व षट्लेश्या आदि का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व व्रतादिक के अनुष्ठान (चारित्र) रूप भेद (व्यवहार) रत्नत्रय का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, इसे ही जिनमार्ग में आगम शास्त्र कहते हैं[३७] तथा ऐसे आगम की भाषा को (शैली)

३३. पं.का./ता.वृ./परि.पृ.255/10
३४. 3/48 पृ.158, 161
३५. प.प्र./ता.वृ. 1/1
३६. आगमो सिद्धंतो पवयणमिदिएयट्ठो - ध. १/१/, १/, १, १/२०/७
३७. वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत षड् द्रव्यादि सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व्रताद्यनुष्ठान भेद रत्नत्रय स्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते तदागम शास्त्रं भण्यते।
– **पंचास्तिकाय**, गाथा १७३, पृष्ठ २५५, जयसेन ता.वृ., पंक्ति ७

आगम भाषा कहते हैं. अर्थात् जो रत्नत्रय का भेद पूर्वक कथन करती है वह भाषा शैली आगम भाषा है; अथवा अभेद का भेद पूर्वक कथन या भेद का अभेदपूर्वक कथन करना आगम भाषा है।

यथा : आत्मा में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र अपने-अपने स्वतंत्र स्वरूप वाले हैं, औदयिक आदि जीव के भाव हैं, कर्मों के उपशम, क्षय क्षयोपशम से क्रमशः उपशम, क्षायिक, क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन आदि होते हैं.

अध्यात्म और अध्यात्म भाषा :

सर्व विशुद्धता अथवा अखंड अभेद का लक्ष्य लेकर अध्यात्म में विषय का प्रतिपादन किया जाता है. वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा उपदिष्ट सिद्धांत को शास्त्रों में जिसमें अभेद रत्नत्रय के अनुसार (निरचय) अर्थ और पदों का अनुकूल व्याख्यान किया जाता है उसे अध्यात्मशास्त्र कहते है[३८] तथा ऐसे ग्रन्थों की भाषा शैली अध्यात्म भाषा है जैसे -एक अखण्ड नित्य आत्मा है ये पृथक्-पृथक् नहीं है अपितु एक ही है . इस पद्धति को अपनाये बिना आगम और अध्यात्म को समझाया नहीं जा सकता और न विषय को पूर्णतया स्पष्ट किया जा सकता है। अस्पष्टता का अर्थ है अनेक मतभेद-भ्रान्तियों का प्रकटीकरण। उन आचार्यों का हम सभी पर महान् उपकार है जिन्होंने दो भाषा शैली अपना कर प्रतिपाद्य विषय वस्तु को सहज सुबोध बनाकर अध्यात्म और आगम की जटिल गूढ़ गहराई में उतरने की क्षमता प्रदान की. वर्तमान में जो जिज्ञासु भटक रहे हैं वे आचार्यों द्वारा प्रयुक्त इन उभय शैली भेद के मर्म को ठीक से ग्रहण न करने के कारण ही दिग्मूढ़ होकर चकित हैं, भ्रमित हैं।

इस बात में रंच मात्र भी संदेह नहीं है कि दोनों ही (अध्यात्म-आगम) शास्त्रों की चर्चा भाषा शैली जैन दर्शन की अनुकूलता विशदता को स्पष्ट करती हैं फिर भी वे एक नहीं हैं, पद्धतियां प्रतिपाद्यता की स्वतंत्रता के साथ अपना-अपना स्वतंत्र स्थान बनाये हुए हैं. इनमें स्याद्वाद अथवा नयविवक्षा की अपेक्षा से अपना 2 पक्ष सत्य है. यदि सापेक्ष-स्याद्वाद की उपेक्षा कर एक विषय वस्तु को दूसरे प्रतिपाद्य विषय से संयुक्त करने का प्रयास किया जाये तो निश्चित ही वह असत्य की कोटि में आ जावेगे- क्योंकि वे अपनी मर्यादा में रहकर विषयवस्तु

३८. पंचास्तिकाय, ता.वृ. 255/10 परिशिष्ट

की सत्य प्ररूपणा करती हैं. अतः आगम और अध्यात्म शैली की इस मौलिक विशेषता अन्तर को जानकर ही वस्तु तत्व के कथन का मर्म समझा जा सकता है, यही विशेषता और अन्तर है।

भाषा और नय में अन्तर :

वस्तु को जानने की दृष्टि/अपेक्षा विशेष के कथन को नय कहते है[३९] तथा ज्ञात विषय की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है, दोनों में मौलिक अंतर है. भाषा भाव की संवाहक है उसकी मर्यादा को ध्यान में रखकर ही नयों को समझा जा सकता है तथा नयों को जानकर भाषा से अभिव्यक्त आशय की गहराई का स्पर्श संभव है।

आचार्य देवसेन ने आलाप पद्धति में नयों की विवेचना में आध्यात्मिक नयों का पृथक् से कथन किया है जिससे आगमिक और आध्यात्मिक दो प्रकार के नयों की जानकारी होती है तथा दोनों के स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय भी एक नहीं हैं लेकिन जैन परंपरा की सीमा में वे विरोधी नहीं है जो अंतर है, उसे यहां स्पष्ट किया जा रहा है।

आगमिक और आध्यात्मिक नयों में अंतर :

आगमिक और आध्यात्मिक नयों में अंतर प्रतिपाद्य विषय की अपेक्षा के बजाय उनके वर्गीकरण के कारण है।

आगम में द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक की मुख्यता से वर्णन है तथा अध्यात्म में निश्चय एवं व्यवहार का उल्लेख है किन्तु निश्चय सिर्फ अध्यात्म में हैं . आचार्य वीरसेन स्वामी ने नयों के संदर्भ में नैगम, संग्रह, व्यवहार नय को द्रव्यार्थिक नयों में शामिल किया है[४०] तथा आध्यात्मिक ग्रन्थों में भी व्यवहार नय का वर्णन है. आगम ग्रन्थों में जहां भी निश्चय नय का उल्लेख है वह भाग अध्यात्म का भाषा रूप ही है। इसी प्रकार आगम ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक की मुख्यता है तथा जहां कहीं अध्यात्म ग्रन्थों में इनका उल्लेख है वह आगमिक भाषा रूप है। संक्षेप में एक चार्ट के माध्यम से नयों के वर्गीकरण की जानकारी यहां प्रस्तुत है :

३९. ज्ञातु रभिप्रायो नयः। – धवला पु.९, ४,१,४५, पृ.१६२ पंक्ति ९
४०. द्रव्यार्थिक नयः स त्रिविधो नैगमसंग्रहव्यवहार भेदेन। – ध १/४, १, ४५

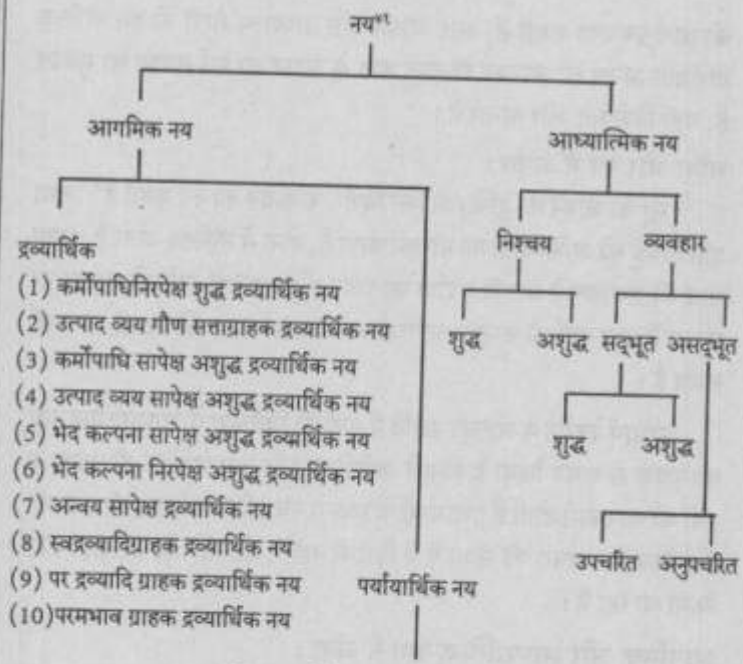

नय लक्षण भेद का विहंगावलोकन :

नय के भेद प्रभेद ज्ञात होने के पश्चात् मन में उसके स्वरूप जानने की प्रबल इच्छा होना स्वाभाविक है. नय के ज्ञान क्षेत्र और मर्यादा के अभिप्राय से उसे निम्न रूप से समझना चाहिए।

४१. जै. सि. को., भाग २, पृ. ५१४, चार्ट नं. २

(1) प्रमाण के अवयव को नय कहते हैं।[४२]

(2) प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार से ग्रहण की गई वस्तु के एक धर्म (अंश) अपेक्षा दृष्टि को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।[४३]

(3) श्रुत ज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं।[४४]

(4) ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।[४५]

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और ज्ञाता के अभिप्राय यो नय कहते हैं।

(5) जो नाना स्वभावों से हटाकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है वह नय है।[४६]

(6) उच्चारण किये अर्थ, पद और उसमें किये गये निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुंचा देता है, इसलिए वे नय कहलाते हैं।[४७]

(7) अनेकान्तात्मक वस्तु में अविरोधपूर्वक हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं।[४८]

नय की उपरोक्त विविध परिभाषाओं के संदर्भ में आचार्यों ने इसके आगमिक और आध्यात्मिक दो मुख्य भेद किये हैं।

आगमिक नय विषयक विवरण :

आगमिक भाषा प्रकरण में इसका खुलासा किया जा चुका है . यहां इतना विशेष है कि इसके दो भेद हैं (1) द्रव्यार्थिक (2) पर्यायार्थिक[४९]

द्रव्यार्थिक नय :

द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है।[५०] द्रव्य का अर्थ सामान्य

---

४२. तदवयंवा नयाः – **आ.प.सू.** ॥३८॥
तावद्वस्तुन्यनेकान्तात्मन्य विरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापण प्रवणः प्रयोगोनयः। – **स.सि., टीका** पृ. १००, स. १/३३

४३. प्रमाणप्रकाशितार्थ विशेष प्ररूपको नयः – रा. वा. १/३३/१/९४/२१

४४. श्रुत विकल्पोवा नयः। आ. प. ९

४५. ध. ९/४, १, ४५/१६२/७
ज्ञानं प्रमाण मित्याहुरूपायोन्यास उच्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तियोऽर्थ परिग्रहः ॥ ११

४६. नानाहतभावे भ्यों व्यतत्यै एकस्मिन्स्वभावे वस्तु नयति प्रापयतीति ना. नय. – अ.प. ९

४७. उच्चारिय मत्थपदं णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण। अत्थं णयंति पच्चंतमिदि तदो ते णया भणिया। ३
णयदि त्ति णयो भणियो बहुहि गुण – पज्जएहि जं दव्वं।
परिणाम खेत्त कालं तरेसु अविणट्ठ सब्भावं। ४ ध १/१, १, १/३, ४/१०

४८. स. सि. १/३३/१४०/७

४९. स. सि. १/३३/१४०/८

५०. द्रव्यमर्थः प्रयोजन मस्येत्मसौ द्रव्यार्थिकः – स.सि. १/६/२९/१

५१. स.सि. १/३३/१४०/९

उत्सर्ग और अनुवृत्ति है। इसे विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक है[५१] अर्थात् जो उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता है, प्राप्त होगा, अथवा प्राप्त हुआ था, वह द्रव्य है, इस नय के प्रमुख दस भेद हैं :-

1. कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय :- यथा संसारी जीव सिद्ध समान शुद्धात्मा है।[५२]
2. उत्पाद व्यय को गौण करके सत्ता (ध्रौव्य) को ग्रहण करने वाला शुद्ध द्रव्यार्थिक नय :- जैसे द्रव्य नित्य है।[५३]
3. कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय :- जैसे कर्मजनित क्रोधादिभाव रूप आत्मा है।[५४]
4. उत्पाद व्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय - जैसे एक ही समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक द्रव्य है।[५५]
5. भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय - जैसे आत्मा के ज्ञान दर्शनादि गुण हैं[५६] वे द्रव्य से अभिन्न है. अथवा गुण-गुणी में भेद होने पर भी जो नय द्रव्य में गुण-गुणी का संबंध करता है वह भेद कल्पना सहित अशुद्ध नय जानना चाहिए।
6. भेद कल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय - जैसे निज गुण से निज पर्याय से निज स्वभाव से द्रव्य अभिन्न है।[५७]
7. अन्वय सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय - जैसे संपूर्ण गुण पर्याय और स्वभाव में द्रव्य को अन्वय रूप से ग्रहण करना।[५८]

---

५२. कर्मोपाधि निरपेक्षः शुद्ध द्रव्यार्थिकः यथा संसारी जीवः सिद्ध सदृक् शुद्धात्मा – **आ.प.सू.** ॥ ४७ ॥

५३. उत्पाद व्यय गौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्ध द्रव्यार्थिको यथा द्रव्यं नित्यम् – **आ.प. सू.** ॥ ४८ ॥

५४. कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्ध द्रव्यार्थिको यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा – **आ.प. सू.** ॥ ५० ॥

५५. उत्पाद व्यय सापेक्षोऽशुद्ध द्रव्यार्थिको यथैकस्मिन् समये द्रव्य मुत्पादव्यय ध्रौव्यात्मकम् **आ.प. सू.** ॥ ५१ ॥

५६. भेदकल्पना सापेक्षोऽशुद्ध द्रव्यार्थिको यथात्मनो दर्शन ज्ञानादयो गुणाः – **आ.प. सू.** ॥ ५२ ॥

५७. भेद कल्पना निरपेक्षः शुद्धो द्रव्यार्थिको यथा निज गुण पर्याय स्वभावाद् द्रव्यमभिन्नम् **आ.प. सू.** ॥ ४९ ॥

५८. अन्वय सापेक्षो द्रव्यार्थिको यथा गुण पर्याय स्वभावं द्रव्यम् – **आ.प. सू.** ॥ ५३ ॥
गुण पज्जयदो दव्वं दव्वा दोण गुण पज्जया भिण्णा।
जम्हा तम्हा भणियं दव्वं गुण पज्जय मणण्णं ॥ **प्रा.न.च. गाथा ४१**

अथवा जो नय संपूर्ण स्वभावों को यह द्रव्य है, यह द्रव्य है, ऐसे अन्वय रूप से द्रव्य की स्थापना करता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है।

जो संपूर्ण गुणों पर्यायों में से प्रत्येक को द्रव्य बतलाता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है. जैसे :- स्वर्ण कड़ा में - पीतल आदि गुणों में अन्वय रूप से रहने वाला स्वर्ण।

अथवा देव नारकादि पर्यायों में यह जीव है ऐसा अन्वय द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

8. **स्व द्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नय :** जैसे स्व द्रव्य, स्वक्षेत्र, स्व काल और स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य को अस्तिरूप से ग्रहण करने वाला **नय**।[५९]
9. पर द्रव्य ग्राहक द्रव्यार्थिक नय :- जैसे - पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल और पर स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य नास्ति रूप है।[६०]
10. परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय :- जैसे ज्ञान स्वरूप आत्मा है क्योंकि इसमें जीव के अनेक स्वभावों में से ज्ञान नामक परमभाव का ही ग्रहण किया गया है।[६१] अथवा आत्मा कर्म से उत्पन्न नहीं होता और न ही कर्मक्षय से उत्पन्न होता है. जैसे :- द्रव्य के ऐसे भाव को बतलाने वाला परम भाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।[६२] यह नय शुद्ध-अशुद्ध के उपचार से रहित द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण करता है अतः इसे परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय कहा है। अन्य ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक नय के नैगम, संग्रह और व्यवहार ऐसे तीन भेद भी बताये गये हैं। व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।[६३] उपरोक्त कथन संक्षेप में यहां दिया गया है. विशेष जिज्ञासु पाठकों को आगम ग्रन्थों से जानना चाहिए।

---

५९. स्व द्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिको यथा स्वद्रव्यादि चतुष्टयापेक्षा द्रव्यमस्ति - **आ.प.सू.** ॥ ५४ ॥

६०. परद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिको यथा पर द्रव्यादि चतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति - **आ.प.सू.** ॥ ५५ ॥

६१. परमाभावग्राहक द्रव्यार्थिको यथा ज्ञान स्वरूप आत्मा अत्रानेक स्वभावानां मध्ये ज्ञानाख्यः परमस्वभावो गृहीतः - **आ.प.सू.** ॥ ५६ ॥ श्रुतभवन, दीपक नयचक्र, श्लोक ११, पृ. ४५

६२. गृहणाति वस्तुभावं शुद्धा शुद्धोपचार
सपरभंभाव ग्राही ज्ञातव्यः सिद्ध कामेन परिहीनं। श्रुतभवन, दीपक नयचक्र, श्लोक ११, पृ. ४५
गे ण्हइ दव्व सहावं असुद्ध सुद्धोवयार परिचित्तं।
सो परम भाव गाही णायव्वो सिद्धि कामेण - **प्रा. ना. च.** ॥ ११८ ॥, पृ. १०९

६३. गो.जी. गा. २७२/१०७६

पर्यायार्थिक नय :

पर्याय ही जिस नय का प्रयोजन है, वह पर्यायार्थिक नय है।[६४] अर्थात् प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण परिवर्तनरूप को जो प्राप्त है वह पर्याय और इसे ग्रहण करना जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है। तीर्थङ्करों के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्याता द्रव्यार्थिक नय है तथा उन्हीं वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है, शेष सभी नय इन दोनों नयों के विकल्प भेद हैं।[६५] आचार्य श्री देवसेन ने पर्यायार्थिक नय के मुख्य छह भेदों का उल्लेख किया है[६६] जिसका विवरण पूर्व में (नक्शा) स्पष्ट रूप से दिया जा चुका है. यहां संक्षेप में उनके लक्षणात्मक अभिव्यक्ति को बताया जा रहा है .

1. **अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय :-** जैसे सुमेरू आदि पुद्गल की पर्याय नित्य है।[६७] इस नय को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री वीरसेनजी धवला जी में कहते हैं - अभव्य जीव की व्यंजन पर्याय भले ही हो किन्तु उन सभी का नाश हो, ऐसा कोई नियम नहीं है, अन्यथा एकान्तवाद का प्रसंग आ जाएगा। इस प्रकार द्रव्य के संदर्भ में भी यही बात घटित होती है कि वह सर्वथा विनष्ट नहीं होता,[६८] वह द्रव्य होना चाहिए क्योंकि द्रव्य को उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक स्वीकार किया है।[६९]
2. **सादि नित्य पर्यायार्थिक नय :** जैसे सिद्ध पर्याय नित्य है।[७०] क्षायिक भाव की अपेक्षा जीव भी सादिअनिधन है।[७१] शुद्ध नय की विवक्षा न करके सम्पूर्ण कर्मों के निरवशेष तथा क्षय के द्वारा उत्पन्न हुई चरम शरीर के आकार वाली परिणतिरूप शुद्ध सिद्ध पर्याय को जो नय ग्रहण करता है वह सादि नित्य पर्यायार्थिक नय है।[७२] कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले भाव

६४. पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः स. सि. १/६/२१/१
६५. ध. १/१, १, १/गा. ५/१२
६६. अथ पर्यायार्थिकस्य षड्भेदाः - **आ.प.सू.** ॥ ५७ ॥
६७. अनादि नित्य पर्यायार्थिको यथा पुद्गल पर्यायो नित्यो मेर्वादिः - **आ.प.सू.** ॥ ५८ ॥
६८. इत्येव माद्यनेकाश्चर्य रूपेण परिणत पुद्गल पर्यायाद्यनेक द्रव्य पर्यायैः सह परिणत लोक महास्कन्ध पर्यायाः त्रिकाल स्थिताः सन्तोऽनादि निधना इति ..... । - न. च. / श्रुत / पृ. ६
६९. ध.पु. ७, पृ. १७८
७०. सादि नित्य पर्यायार्थिको यथा सिद्ध पर्यायो नित्याः - आ.प.सू. ॥५९ ॥
७१. जीवाहि सहज चैतन्य लक्षण पारिणामिक भावेनाऽनादि निधनाः त एवौदयिक क्षायोपशमिकौपशमिक भावैः सादिनिधनाः । त एव क्षायिक भावेन साद्यनिधनाः ॥ - **पंचास्तिकाय.** गा.५३, आ. टीका, पृष्ठ १०२ पंक्ति २-३
७२. संस्कृतय नय चक्र टीळा गाथा २, पृ. ७

अबिनाभावी है. कर्मोदय रूप बन्धक कारण का यहां अभाव है. अतः जो नय इन क्षायिक भावों को विषय करता है वह सादि नित्य पर्यायार्थिक नय है।[७३]

3. सत्तागौणत्व उत्पाद व्यय ग्राहक अनादि अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय :- ध्रौव्य को गौण करके उत्पाद व्यय की मुख्यता से ग्रहण करने वाला नय अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है। यथा पर्याय प्रतिसमय विनाश होती है।[७४]

4. सत्ता सापेक्ष स्वभाव नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय :- ध्रौव्य की अपेक्षा सहित वस्तु विषय को ग्रहण करने वाला नय नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है। जैसे - एक समय में पर्याय उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है।[७५] इस नय का विषय ध्रौव्य भी होने से जो कि इसका विषय नहीं है, इसे नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय कहा गया है।[७६]

5. कर्मोपाधि निरपेक्ष स्वभाव नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय :- कर्मोपाधि निरपेक्ष स्वभाव को ग्रहण करने वाला नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है। जैसे संसारी जीवों की पर्याय (अरहंत पर्याय) सिद्ध समान शुद्ध है।[७७] संसारी जीवों की पर्याय को जो सिद्ध समान शुद्ध मानता है वह नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है[७८] चराचर पर्याय परिणत संसारी जीवधारियों के समूह में शुद्ध सिद्ध पर्याय की विवक्षा से कर्मोपाधि से निरपेक्ष स्वभाव शुद्ध पर्यायार्थिक नय है यहां

७३. कम्मखया दुप्पणो अविणासी जो हु कारणाभावे।
इदमेव मुद्धरंतो भण्ण इ सो साइणिद्ध णओ॥ - **द्रा.न.च.** (माइल्ल) गा. २००

७४. सत्तागौणत्वेनोत्पाद व्यय ग्राहक स्वभावोऽनित्य शुद्ध पर्यायार्थिको यथा समयं समयं प्रति पर्याया विनाशिनः - आ.प.सू. ॥ ६०॥

७५. सत्ता सापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्ध पर्यायार्थिको यथा एकस्मिन् समये त्रयात्मकः पर्यायः - **आ.प.सू.** ॥ ६१ ॥

७६. अशुद्धा नित्य पर्यायान् कर्मणान् विवृणोति यः।
विभावा नित्य पर्याय ग्राहकोऽशुद्ध संज्ञक :॥
- **श्रुतभवन** दीपक नय चक्र, श्लोक १७, पृ. ४८

७७. कर्मोपाधि निरपेक्ष स्वभावोऽनित्य शुद्ध पर्यायार्थिको यथा सिद्ध पर्यायसदृशाः शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः - **आ.प.सू.** ॥ ६२ ॥

७८. पर्यायानंगिनां शुद्धात् सिद्धानामिव यो वदेत्।
स्वभाव नित्य शुद्धोऽ सौ पर्याय ग्राहको नयः॥ **श्रुतभवन** दीपक, नयचक्र, श्लोक १६, पृ. ४८

पर संसार रूप विभाव अवस्था में भी यह नय शक्ति रूप से नित्य शुद्ध पर्याय को जानने की विवक्षा रखता है।

6. कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय :- जैसे संसारी जीवों का जन्म मरण होता है।[७९] शुद्ध पर्याय की विवक्षा न कर नरकादि जनित विभाव पर्यायों को जीव स्वरूप बतलाने वाला, नय अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है। यह नय संसारी जीव की गति संबंधी अनित्य अशुद्ध पर्यायों को ग्रहण करता है, वह विभाव, अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है।[८०]

इस प्रकार आचार्यों ने ग्रन्थों में वस्तु विवेचना में जो तथ्य स्पष्ट किये उनके आधार पर यहां नयों के छह प्रकार (भेद) बताये गये हैं. ग्रन्थान्तरों में पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ एवं एवंभूत ये चार भेद मिलते हैं।[८१] अर्थ नय - व्यंजन नय के रूप में भी नय के भेद कहे गये हैं।[८२] नयों का विस्तार से कथन आगम ग्रन्थों में दृष्टव्य है। यहां संक्षेप में ही पाठकों की सुविधा हेतु किया है।

आध्यात्मिक नय विषयक विवरण :-

जैन श्रमण परंपरा में सत्य प्रतिपादित करने हेतु प्रमाण की मुख्यता है तथा सापेक्ष सत्य की अपेक्षा से नय व्यवहार भी मान्य है। पूर्व में आगमिक नयों के विषय में सविस्तार वर्णन किया जा चुका है. सम्प्रति आध्यात्मिक विवेचना शैली जिसमें प्रमुखता से विशुद्धता का लक्ष्य है। इस प्रकार नय शैली का प्रयोग करके आचार्यों ने किस प्रकार जैन सिद्धांत का अविरोधी स्वरूप स्थिर रखा यह वास्तव में एक अद्भुत प्रयोग है जो मनन करने योग्य है।

आगमिक नयों की तरह आध्यात्मिक नयों का भी एक स्वतंत्र स्थान है जिसे आचार्य श्री देवसेनजी ने आलाप पद्धति में उल्लेख करते हुए लिखा है - "अब पुनः आध्यात्म भाषा में नयों को कहते हैं"[८३] उक्त कथन से यही ध्वनित होता कि

७९. कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभावोऽनित्य शुद्ध पर्यायार्थिको यथा संसारिणामुत्पत्ति मरणे स्तः - आ.प.सू. ॥६३॥

८०. भणइ अणिच्चा सुद्धा चउगइजीवाण पज्जया जोहु।
होइ विभाव अणिच्चो असुद्धओ पज्जयत्थिणओ॥ - **द्रा.न.च.** (माइल्ल) गा. २०४.

८१. ध. ९/४, १, ४५

८२. रा. वा. ४/४२/१७/३६१/२

८३. पुनरप्यध्यात्म भाषया नया उच्यन्ते - आ.प.सू. ॥२१४॥

नय आध्यात्मिक स्वतंत्र तथा विशिष्ट भूमिका वाले हैं, इस नय के मूल दो भेद हैं- 1. निश्चय 2. व्यवहार[८४]

1. निश्चय नय एवं भेद :-

अभेद दृष्टि से कथन निश्चय नय का आधार है . इसमें अनुपचार अभेदपूर्वक ही वस्तु का निश्चय होता है,[८५] जो नय वस्तुतत्व को इस रीति से ग्रहण करता है वह निश्चय नय है।[८६] क्योंकि यह नय आत्मा के आश्रित हैं।[८७] इसमें कर्ता कर्म आदिभाव एक दूसरे से भिन्न नहीं है।[८८] द्रव्याश्रित होने से यह एक जीव के स्वाभाविक भाव का आलंबन कर प्रवृत्त होता है तथा अन्य भावों को विभाव कह कर निषेध करता है।[८९] इस कारण यह भी दो भेदों में विभाजित है (1) शुद्ध निश्चय नय (2) अशुद्ध निश्चय नय[९०]

(1) शुद्ध निश्चय नय :- जो नय कर्मोपाधि रहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है वह शुद्ध निश्चय नय है. जैसे - केवल ज्ञानादि स्वरूप जीव है,[९१] यह नय संसारी छद्मस्थ जीवों में केवलज्ञानादि गुणों को शक्ति रूप से तथा मुक्तजीवों में व्यक्त रूप से मानता है . अर्थात् जिस प्रकार से व्यक्त रूप में सिद्धात्मा में निर्मल ज्ञानादि गुण हैं वैसे ही संसारी जीवों में सम्प्रति वे शक्ति रूप में है।[९२] इस नय से द्रव्य की शुद्ध अवस्था को ही ग्रहण किया है. चाहे वह व्यक्त रूप हो अथवा शक्ति रूप, पर्याय की ओर इसका लक्ष्य नहीं है. इसी कारण मुक्तात्मा की तरह यह वर्तमान शरीर में भी परमात्मा को शक्ति रूप में

८४. तावन्मूल नयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च - आ.प.सू. ॥ २१५ ॥
८५. तत्र निश्चयनयोऽभेद विषयो, व्यवहारो भेद विषयः - आ.प.सू. ॥२१६॥
८६. अभेदानुपचारितया वस्तुनिश्चीयत इति निश्चयः - आ.प.सू. ॥ २०४ ॥
८७. आत्माश्रितो निश्चय नयः - **समयसार** (आत्माख्याति टीका) - गा. २७२
८८. अभिन्न कर्तृकर्मादि विषयो निश्चयो नय। - **तत्वानुशासन** २९
८९. निश्चय नयस्तु द्रव्याश्रित्यात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति। ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य सन्ति निश्चयेन तु न सन्तीतियुक्ताः प्रज्ञप्तिः। - **समयसार** आ.टी., गाथा ५६
९०. तत्र निश्चयो द्विविधाः शुद्धनिश्चयोऽशुद्ध निश्चयश्च - **आ.प.सू.** २१७
९१. तत्र निरूपाधिक गुण गुण्यभेद विषयक शुद्ध निश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति - **आ.प.सू.** ॥ २१८ ॥
९२. यथा निर्मलो ज्ञानमयो व्यक्तिरूपः शुद्धात्मा सिद्धो तिष्ठति तथाभूतः शुद्ध निश्चयेन शक्ति रूपेण देहेऽपि तिष्ठति ... । परमात्म प्रकाश, दोहा 49, टीका पृ. 48, पं. 16

मान्य करता है।[९३] निश्चय दृष्टि से संसारी आत्मा रागादि भावों से शक्ति रूप से शून्य है और मुक्तात्मा व्यक्त रूप से शून्य है इस प्रकार शक्ति रूप-व्यक्त रूप में अंतर जानना चाहिए।[९४]

निश्चय शब्द से प्रारब्ध योगी, अभ्यासी, प्राथमिक जघन्य पुरुष की अपेक्षा से तो निश्चय के अनुकूल व्यवहार रत्नत्रय को ग्रहण करना चाहिए तथा निष्पन्न योगी, उत्कृष्ट अभ्यासी योग में निश्चल पुरुष की अपेक्षा (मध्यम धर्म ध्यान की अपेक्षा) व्यवहार रत्नत्रय के अनुकूल निश्चय रत्नत्रय को ग्रहण करना चाहिए। निष्पन्न योग उत्कृष्ट धर्मध्यानी की अपेक्षा शुद्धोपयोग रूप विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चय नय ग्रहण करना चाहिए। विशेष शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा त्रियोग के संकल्प विकल्परहित आत्मा में रत रहो[९५] यह कथन शुक्ल ध्यान की अपेक्षा से समझना चाहिए।

(2) अशुद्ध निश्चय नय :- जो नय कर्मोपाधि सहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है वह अशुद्ध निश्चय नय है। जैसे मतिज्ञान आदि स्वरूप जीव है।[९६] क्योंकि ज्ञान जीव में ही होता है। अतः यह नय मतिज्ञानादि रूप जीव को कहता है। हालाकि मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक भाव है, जीव का मूल स्वभाव नहीं, फिर भी अशुद्ध दशा में जीव के पाया जाता है। इसी कारण इस नय की अशुद्ध निश्चय नय संज्ञा है। जीव कर्मोपाधि के कारण अशुद्ध होने से उस काल में (रागादि विभावकाल में) अग्नि से तप्त लौह पिण्ड के समान तन्मय होने से निश्चय कहा जाता है. इस प्रकार अशुद्ध और निश्चय इन दोनो के आधार से अशुद्ध निश्चय नय कहा जाता है।[९७]

९३. केवलज्ञानान्तर्भूतानन्त गुण परिणतः सिद्धोमुक्तो मुक्तौ निवसति तिष्ठति देवः परमाराध्यः तादृशः पूर्वोक्त लक्षण सदृशः क्व निवसति तिष्ठति ब्रह्मा शुद्ध बुद्धैक स्वभावः परमात्मा पर उत्कृष्टः। निवसति ...। देहे। केन। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन।
– **परमात्म प्रकाश** टी, दोहा 26, पृ.30

९४. संसारिणः निश्चयनयेन शक्ति रूपेण रागादि विभाव शून्यं च भवति मुक्तात्मनां तु व्यक्ति रूपेणापि ....। – **परमात्म प्रकाश**, दोहा 55, टीका पृ.53, पंक्ति 15–16

९५. जं किंचिवि चिंतंतो णिरीह वित्ती हवे जदा साहू। लद्धूणय एयत्तं तदाहुतं तस्स णिच्छयं जाणं॥ – बृहद् द्रव्य संग्रह, गा. ५५, पृ. १७५

९६. सोपाधिक विषयोऽ शुद्ध निश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव इति।
– **आलाप पद्धति** सूत्र २१९

९७. रागादि विकल्प रूप चेतन कर्मणामशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति। अशुद्ध निश्चयस्यार्थः कथ्यते – कर्मोपाधि समुत्पन्नत्वाद शुद्धः तत्काले तन्मायः पिण्डवत्तन्मयत्वाद्व निश्चयः, इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते। – बृहद् द्रव्य संग्रह, टीका पृ. १७, गाथा ८

व्यवहार नय एवं भेद :-

व्यवहार नय कथंचित् पर्यायार्थिक नय है। क्योंकि गोम्मटसार जीवकांड में व्यवहार, विकल्प, भेद व पर्याय ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं।[९८] व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।[९९] व्यवहार नय पर्याय (भेद) रूप कलंक से युक्त होने से अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।[१००] व्यवहार नय को निश्चय मान लेना व्यवहाराभास है। क्योंकि द्रव्य और पर्यायों के आरोपित किये गये कल्पित विभागों को जो वास्तविक मान लेता है वह प्रमाणबाधित होने से व्यवहार नयाभास है।[१०१]

व्यवहार नय भी उपनय है क्योंकि उपनय से व्यवहार नय उत्पन्न होता है और प्रमाण नय व निक्षेपात्मक वस्तू का भेद व उपचार द्वारा भेद व अभेद करने को व्यवहार कहते है।

प्रश्न : व्यवहार नय उपनय से कैसे उत्पन्न होता है ?

उत्तर : क्योंकि सद्भूतरूप उपनय तो अभेद रूप वस्तु में भेद उत्पन्न करता है और असद्भूत रूप उपनय भिन्न वस्तुओं में अभेद का उपचार करता है।[१०२]

जो नयों के समीप हो अर्थात् नय की भांति हो, ज्ञाता के अभिप्राय स्वरूप हो उन्हें उपनय कहते हैं और वह उपनय सद्भूत, असद्भूत व उपचरित असद्भूत के भेद से तीन प्रकार का है।[१०३]

जो नय भेद रूप से वस्तु का विषय करता है. वह व्यवहार नय है[१०४] एक अभेद वस्तु में जो धर्मों का अर्थात् गुण पर्यायों का भेद रूप (उपचार) करता है वह व्यवहार नय है।[१०५] यह नय भिन्न कर्ता कर्मादि विषयक है।[१०६] प्रमाण, नय

९८. ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो। – **गो.जी. मू.** २७२/१०१६
९९. व्यवहार नयोऽशुद्ध द्रव्यार्थिकः। – **श्लो.वा.** २/१/७/२८/५८५/१
१००. पर्याय कलङ्कितया अशुद्ध द्रव्यार्थिकः व्यवहार नयः। – **धवला** ९/४, १, ४५/१७१/३
१०१. कल्पनारोपित द्रव्य पर्याय प्रविभाग भाक्। प्रमाण बाधितोऽन्यस्तु तदा भासोऽवसीयताम् ॥ – **श्लो.वा.** ४/१/३३/६०/२४४
१०२. उपनयोपजनितो व्यवहारः। प्रमाण नय निक्षेपात्मकः भेदोपचाराभ्यां व्यवहरतीति व्यवहारः। कथमुपनय स्तस्य जनक इतिचेत् सद्भूतो भेदोत्पादकत्वात् असद्भूतस्तूपचारोत्पादकत्वात्। – **न.च.** / श्रुत २९/१७
१०३. नयानां समीपा : उपनयाः। सद्भूतव्यवहारः
असद्भूत व्यवहार उपचरिता सद्भूतव्यवहार श्चेत्युपनयस्त्रेधा। – **आ.प.** ५
१०४. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। – **स.सि.**१/३३ पृ. १०१
व्यवहारो भेद विषयः – **आ.प.सू.** २१७
१०५. यः संग्रह गृहीतार्थं शुद्धा शुद्धे विभेदक।
शुद्धा शुद्धा भिधानेन व्यवहारो द्विधा मतः॥
– **श्रुतभवन** दीपक नय चक्र, श्लोक २२ पृ. ५०
१०६. व्यवहार नयो भिन्नकर्तृकर्मादि गोचरः। – **तत्वानुशासन** २९

निक्षेपात्मक वस्तु को जो भेद द्वारा भेद या उपचार द्वारा भेद या अभेद रूप करता है वह व्यवहार है।[१०७] व्यवहार नय के मुख्य दो भेद हैं. (1) सद्भूत व्यवहार नय (2) असद्भूत व्यवहार नय।[१०८]

(1) सद्भूत व्यवहार नय : जो एक ही वस्तु के अवयव को भेद रूप से ग्रहण करता है वह सद्भूत व्यवहार नय है।[१०९] विवक्षित वस्तु के मौजूद गुणों का नाम सद्भूत है और उन धर्मों की उस वस्तु में भेद रूप प्रवृति का नाम व्यवहार है।[११०] क्योंकि गुण और गुणी में अथवा पर्याय व द्रव्य में कर्त्ता कर्म करण आदि कारक संबंधों का कथंचित् सद्भाव होता है उसे जानकर जो द्रव्यों में भेद करता है वह सद्भूत व्यवहार नय है।[१११] इसके भी मुख्य दो भेद हैं[११२] (1) शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय (2) अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय

शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय :-

यह नय शुद्ध गुण और गुणी, शुद्ध पर्याय पर्यायी को विषय करता है।[११३] निरूपाधि गुण गुणी में भेद विषयक नय अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे -केवलज्ञानादि जीव के गुण हैं.[११४] यहां जीव लक्षण निरूपण में केवल ज्ञानदर्शन के प्रति शुद्धि सद्भूत शब्द के वाच्य अनुपचरित सद्भूत व्यवहार है।[११५] यह जीव के गुण होते हुए भी उनको लक्ष्य बनाकर जीव का लक्षण कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है।[११६]

१०७. श्रुतभवन दीपक नयचक्र, गा. २२, पृ. ५०
१०८. व्यवहारो द्विविधः। सद्भूत व्यवहारोऽ सद्भूत व्यवहार श्च। - आ.प.सू. २२०
१०९. तत्रैक वस्तु विषयः सद्भूत व्यवहारः। आ.प.सू. २२१
११०. अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरूलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वमचेतनत्वं, मूर्तत्वं, अमूर्तत्वं, द्रव्याणां दश सामान्यगुणाः। प्रत्येक अष्टौ अष्टौ सर्वेषाम् - आ.प.सू. ९
१११. गुण पज्जय दो दव्वे कारण सब्भावदोय दव्वेसु।
सण्णाईहिय भेयं कुणइ सब्भूय सुद्धियरो॥ - प्रा.न.च. (माइल्ल) गा. २१९, पृ. ११६
११२. सद्भूत व्यवहारो द्विधा। - आ.प.सू. ८१
११३. शुद्ध सद्भूत व्यवहारो यथा शुद्ध गुण शुद्ध गुणिनो शुद्ध पर्याय शुद्ध पर्यायिणो भेद कथनम्। - आ.प.सू. ८२
११४. निरूपाधि गुण गुणिनो भेद विषयोऽनुपचरित सद्भूत व्यवहारो यथा जीवस्य केवल ज्ञानादयो गुणाः। - आ.प.सू. २२५
११५. अशुद्ध सद्भूत व्यवहारो यथा अशुद्ध गुणाऽशुद्ध गुणिनोऽ शुद्ध पर्याया शुद्ध पर्यायिणो भेद कथनम्। - आ.प.सू. ८३
११६. केवल ज्ञानदर्शनं प्रति शुद्ध सद् भूत शब्द वाच्योऽनुपचरित सद्भूत व्यवहारः।
- वृ.द्र.सं.टी. १।६

अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय :-

यह नय अशुद्ध गुण गुणी पर्याय पर्यायी में भेद का कथन करता है जिससे इसे अशुद्ध असद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है उपाधिसहित गुण गुणी में भेद को विषय करने वाला उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है जैसे मतिज्ञानादि जीव के गुण है[११७] अशुद्ध सद्भूत व्यवहार से मतिज्ञानादि विभाव गुणों का आधार होने से अशुद्ध जीव है[११८] छद्मस्थ जीव के ज्ञान दर्शन की अपेक्षा से अशुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य उपचरित सद्भूत व्यवहार है[११९] यह अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय ही उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है ये दोनों एकार्थवाची है.

असद्भूत व्यवहार नय :-

भिन्न-भिन्न वस्तु को विषय करने वाला असद्भूत व्यवहार नय है,[१२०] अर्थात् अन्य द्रव्य को अन्य गुण कहना असद्भूत व्यवहार नय की श्रेणी में आता है।[१२१] जैसे इंद्रिय श्वासोच्छवास आदि दस प्रकार के प्राण जीव के हैं।[१२२] ज्ञेय को ज्ञान कहना, श्रद्धेय को दर्शन कहना-देव शास्त्र गुरू की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है. आचरणीय को चारित्र-हिंसादि का त्याग चारित्र है यह सब कथन असद्भूत व्यवहार नय से जानना चाहिए।[१२३] इस नय की सीमा में कर्म नोकर्म भी चेतन स्वभावी है[१२४] जीव का भी मूर्त स्वभाव है[१२५] और पुद्गल का अमूर्त व उपचरित है[१२६] परमेष्ठी को नमस्कार यह वचनात्मक नमस्कार भी असद्भूत व्यवहार नय से होता है।[१२७]

---

११७. तत्र सोपाधि गुण गुणिनो भेद विषयः उपचरित सद्भूत व्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः। – **आ.प.सू.** २२४

११८. यद्यमूर्तस्तर्हितस्य कथं कर्मबन्ध इति चेत् "ववहारा मुत्ति" अनुपचरिता सद्भूत व्यवहारान्मूर्त्तो ..। –बृ. द्रव्य संग्रह, टीका पृ. १६, गाथा ७

११९. असुद्ध सद्भूत व्यवहारो यथाऽशुद्ध गुणिनोरशुद्धपर्याया शुद्ध पर्यायिणोर्भेद कथनम्। – **आ.प.सू.** ॥ ८३ ॥

१२०. भिन्न वस्तुविषयोऽ सद्भूत व्यवहारः ॥ – **आ.प.सू.** २२२

१२१. अण्णेसिं अण्णगुणा भणइ असब्भूय तिविह भेदोवि।
सब्भाइ इयर मिस्सो णयव्वो तिविह भेद जुदो॥ – **नय चक्र (माइल्ल)** ॥ २२२ ॥ पृ. ११७

१२२. एवं दिया इदेहा णिव्वत्ता जे वि पो ग्गले काए।
ते जो भणइ जीवा ववहारो सो विजाईओ ॥ – **नय चक्र** गाथा २२५ ॥

१२३. चरियं खलु चारित्तंणायव्वं तह असब्भूवं। – **नय चक्र** ३२०

१२४. असद्भूत व्यवहारेण कर्म नो कर्मणो रपि चेतन स्वभावः। – **आ.प.सू.** १६०

१२५. जीवस्यापि असद्भूत व्यवहारेण मूर्त स्वभावः – आ. प. ८

१२६. पुद्गल स्योपचारा देवास्य मूर्त्तत्वम्। – **आ.प.सू.** १६६

१२७. नमो जिनेभ्यः इति वचनात्मक द्रव्य नमस्कारोप्यसद्भूत व्यवहार नयेन ....।
– **पंचास्तिकाय.** गा.१, ता.वृ. पृ. ४ पंक्ति १९

इस नय के भी मुख्य दो भेद हैं - (1) उपचरित असद्भूत व्यवहार नय (2) अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय[१२८]

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय :-

संक्लेशता रहित वस्तुओं के संबंध में विषय करने वाला उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है. जैसे-देवदत्त का धन कहना।[१२९] यद्यपि असद्भूत व्यवहार ही उपचार है और ऐसे उपचार का भी जो उपचार करता है उसकी उपचरित असद्भूत व्यवहार नय संज्ञा होती है।[१३०] यह नय आत्मा को घट पटादि का कर्त्ता[१३१] सिद्धात्मा मोक्ष शिला पर विराजमान[१३२] जीव पंचेन्द्रिय विषयों का भोक्ता[१३३] अथवा त्यागी[१३४] क्रोधादि विभावों का स्वामी है[१३५] इस प्रकार कथन करता है।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय :-

संक्लेश सहित वस्तुओं के संबंध को विषय करने वाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है. जैसे जीव का शरीर है[१३६] जीव मूर्त है[१३७] कर्म नोकर्म रहित[१३८], देह से अभिन्न[१३९] कर्मों का दहन करने वाला[१४०], द्रव्यकर्मों का कर्त्ता भोक्ता

१२८. असद्भूत व्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरित भेदात्। - **आ.प.सू.** २२६
१२९. तत्र संश्लेष रहित वस्तु संबंध विषय उपचरिता सद्भूत व्यवहारो यथा देवदत्त स्य धनमिति। - **आ.प.सू.** २२७
१३०. असद्भूत व्यवहारः एवोपचारः, उपचारादप्युपचारयः करोति स उपचरिता सद्भूत व्यवहारः। - **आ.प.सू.** २०८
१३१. उपचरिता सद्भूत व्यवहारेण घट पट शकटादीनां कर्त्ता इत्य शुद्ध जीव स्वरूपमुक्तम्। - **नियमसार** ता.वृ. १।१८
१३२. लोकाकाश प्रमिता संख्येय स्वकीय शुद्ध प्रदेशेषु यद्यपि निश्चय नयेन सिद्धास्तिष्ठन्ति, तथाप्युपचरितोसद्भूत व्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यते। - वृ. द्रव्य संग्रह टीका पृ. ४५ गाथा १९
१३३. उपचरितासद्भूत व्यवहारेणेष्टानिष्ट पंचेन्द्रिय विषय जनित सुख दुःखं भुङ्क्ते। - - **वृ. द्रव्य संग्रह** टीका पृ. १९ गाथा ९ पंक्ति १
१३४. यत्रयोऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रिय परित्यागः स उपचरितासद्भूत व्यवहारेण ...। - वृ. द्रव्य संग्रह टीका , गाथा ४५, पृ. १५५ पंक्ति ३
१३५. क्रोधादि कर्मज भावः आत्मा। - आ.प.सू. ५० - **नय चक्र** गा. २१
१३६. संश्लेष सहित वस्तु संबंध विषयोऽनु पचरितासद्भूत व्यवहारो, यथा जीवस्य शरीरमिति - **आ.प.सू.** २२८
१३७. यद्यमूर्तस्तर्हितस्य कथं कर्मबन्ध इति चेत् ''ववहारा मुत्ति'' अनुपचरिता सद्भूत व्यवहारान्मूर्त्तो ..। -वृ. द्रव्य संग्रह टीका, पृ. १६, गाथा ७
१३८. अनुपचरिता सद्भूत व्यवहार संबंध : द्रव्यकर्म नोकर्मरहितं - **प.प्र.ता.वृ.** १/७
१३९. अनुपचरितासद्भूत व्यवहार नयेन देहादभिन्नं .....।
- **परमात्म प्रकाश**, अ.1, दोहा 14, टीका पृ. 4
१४०. कर्ममल कलङ्कान् दग्ध्वा कर्ममल शब्देन द्रव्यकर्म भाव कर्माणि गृह्यन्ते। - परमात्म प्रकाश, दोहा 1, टीका पृ.6

नोकर्म का कर्ता है[१४१] इस प्रकार संक्षेप में नय का कथन किया गया है विज्ञ पाठकगण आगम ग्रन्थ से सविस्तार जानकारी करें। नयों की विवेचना से यह स्पष्ट है कि आगम अध्यात्म में वर्णित नय पृथक्-पृथक् हैं किन्तु वे सभी सापेक्ष हैं।[१४२] एतदर्थ वे सभी सम्यक् नय हैं जिन प्रणीत होने से असत्प्ररूपणा की गुंजाइश किंचित् भी नहीं है।[१४३] कहीं-कहीं पर आचार्यों ने इन्हीं नयों को परस्पर एक रूप से समझाते हुए उन्हें पूरक बताते हुए साध्य साधक भाव से कहा है।[१४४] शुद्ध अशुद्ध निश्चय नय (आध्यात्मिक नय भेद) को पंचाध्यायी में द्रव्यार्थिक नय के भेदों में गिनाया गया है तथा आलाप पद्धति में भी इसी मत का समर्थन है[१४५] समयसार तात्पर्य वृत्ति में शुद्ध द्रव्यार्थिक नय निश्चय में गर्भित है,[१४६] तथा व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के रूप में श्लोक वार्तिक में उल्लिखित है।[१४७] धवलाजी में भी यही मत मिलता है. संग्रह नय शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है[१४८] तथा पर्यायार्थिक नय कथंचित् व्यवहार नय की सीमा में है. गोम्मटसार जीव काण्ड में व्यवहार विकल्प भेद व पर्याय को एकार्थवाची कहा है[१४९] इसे पंचाध्यायी में भी स्वीकार किया गया है कि दोनों एकार्थ वाची हैं सभी व्यवहार केवल उपचार रूप होता है[१५०] आगमभाषा में कथित क्षयोपशमादिक भाव (अध्यात्म भाषा के)

१४१. आसन्न गतानुपचरिता सद्भूत व्यवहार नयाद् द्रव्यकर्मणां कर्ता तत्फल रूपाणां सुख दुःखानां भोक्ता च अनुपचरिता सद्भूत व्यवहारेण नो कर्मणां कर्ता। **नियमसार** ता.वृ. १।१८

१४२. हिः कथंचित् भेदः परस्परविना भावत्वेन निश्चय व्यवहारयो नाकुलासिद्धिः। – **श्रुतभवन** दीपकनयचक्र पृ. ८१

१४३. निरपेक्षनया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। आप्तमीमांसा, श्लोक १०८

१४४. त एते गुण प्रधानतया परस्परतन्त्राः सम्यग्दर्शन हेतवः
पुरुषार्थ क्रिया साधन सामर्थ्यात्तनत्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतन्त्राश्चासमर्थाः। – सर्वार्थसिद्धि १/३३ पृ. १०४, पंक्ति ६-७

१४५. देखो आलापपद्धति – अध्यात्मनय प्रकरण हिन्दी टीका, पृ. १२०

१४६. ववहारेणु वदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥ **समयसार** गाथा ७॥

१४७. शुद्ध द्रव्य मशुद्धंच तथाभिप्रैतियो नयः। सतु नैगम एवेह संग्रह व्यवहारजः॥ ३७
वस्तु पर्याययद द्रव्यं गुणवद्वेति निर्णयः।
व्यवहार नयाज्जातः सो ऽशुद्ध द्रव्य नैगमः॥ ३९ तत्वार्थ श्लोक वार्तिक, अ.१, पृष्ठ २७०, सूत्र ३३

१४८. तत्र सत्तादिना यः सर्वस्य पर्याय कलंका भावेन अद्वैतत्वमध्यवस्यति शुद्ध द्रव्यार्थिकः स संग्रहः॥ षटखंडागम, चतुर्थ खंड (वेदना) कृति अनुयोगद्वार, पृष्ठ १७० पंक्ति ४,५ तथा फुटनोट – जय ध.१ पृ. २१९

१४९. ववहारोय वियप्पो भेदोतह पज्जओत्तिएयट्ठो।
ववहार अवट्ठाणट्ठिदी हु ववहार कालो दु॥ – गो. जी. गा. ५७२

१५०. पंचाध्यायी (पूर्वार्ध) श्लोक ५२१

अशुद्ध निश्चय नय है[१५१] रागादि विभाव परिणामों का उपादान अशुद्ध निश्चय नय है[१५२] और वह अशुद्ध निश्चय नय व्यवहार नय ही है समय सार तात्पर्यवृत्ति में खुलासा करते हुए लिखा है कि द्रव्य कर्म बन्ध की अपेक्षा से जो यह सद्भूत व्यवहार कहा है उसकी अपेक्षा तारतम्यता हेतु रागादि को अशुद्ध निश्चय नय का विषय बनाया गया है वस्तुतः शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय नय भी व्यवहार है।[१५३] द्रव्यकर्मों की अपेक्षा रागादि को आभ्यंतर संज्ञा कह कर-चेतनात्मक मानकर निश्चय संज्ञा भले ही दे दी गई हो किन्तु शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा तो वह व्यवहार ही है।[१५४] परंपरा से शुद्धात्मा को, साधक होने से, उपचार से शुद्ध नय कहा गया है परंतु शुद्ध निश्चय नय नहीं कहा।[१५५] व्यवहार नय से तो परमार्थ का ज्ञान होता है, जाना जाता है तथा इसके बिना तो परमार्थ (निश्चय) का उपदेश भी अशक्य है।[१५६] अभूतार्थ संज्ञा प्राप्त यह[१५७] व्यवहार नय भूतार्थ अभूतार्थ दोनों है[१५८] तथा यही स्थिति शुद्ध निश्चय नय की भी है।[१५९] उक्त कथन का मात्र सार इतना ही है कि आचार्य (ज्ञानीजन-मुनिजन) अज्ञानी जनों को लक्ष्य में लेकर अभूतार्थ व्यवहार नय का उपदेश देते है[१६०] जो

१५१. जे चेव भाव रूप जीवे भूदा खओव समदोय।
ते होंति भावयाणा असुद्ध णिच्छयणयेण णायव्वा ॥ **प्रा.न.च.** (माइल्ल) गा. ११३ ॥

१५२. रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञानरागमभाषया शुक्ल ध्यानं वा केवलज्ञानोत्पत्तौ शुद्धोपादान कारणं भवति। अशुद्धात्मा तु रागादिना अशुद्ध निश्चयेना शुद्धोपादान कारणं भवतीति।
– **प्रवचनसार** ता. वृ. गा. ८, पृ. १८

१५३. ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण नीर क्षीरवत् संश्लेष संबंधो भवतु न चाभ्यंतराणां रागादीनाम तत्राशुद्ध निश्चयेन भवितव्यमिति नैवं द्रव्यकर्म बंधापेक्षया योसौ असद्भूत व्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्य ज्ञापनार्थं रागादीनाम शुद्ध निश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्ध निश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोपि व्यवहार एवेति भावार्थः – **समयसार** ता.वृ., गा. 62 (अजीवाधिकार)

१५४. अथ राग द्वेष मोह मिथ्यात्वाविरति प्रमाद ... इत्यस्य जीवस्य शुद्ध निश्चयनयेन सर्वाण्येतानि न संति ...। – समयसार, ता.वृ., गा. 56

१५५. प्र. सा. ता. वृ. ८९/२५४

१५६. जहणवि सक्कमणज्जो अणज्जभासंविणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥
– **समयसार** गाथा ८

१५७. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ। भूयत्थमस्सि दो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥
– **समयसार** गाथा ११

१५८. व्यवहार नयः अभूतार्थः असत्यार्थो भवति भूतार्थश्च देसिदो कथितः।
– **समयसार** गाथा १३, ता. वृ.।

१५९. शुद्ध निश्चय नयोपि द्विधा इति नय चतुष्टयं इदमत्र भूताभूतार्थ भेदेन व्यवहारोति द्विधा शुद्धनिश्चयाशुद्धभेदेन निश्चयनयोपि द्विधा इति ..। – समयसार ता.वृ., गा. 13

१६०. ज्यों अनार्य भाषाविना समझे अनार्य नहिं।
व्यवहारी व्यवहार विन त्यों परमारथ नाहि ॥ – समयसार गा. ८ की भाषा टीका

व्यवहार को ही सर्वथा सत्य मानते हैं उनके लिए उपदेश नहीं है।[१६१] व्यवहार सर्वथा असत्य भी नहीं है[१६२] समय सार के सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण में आचार्य जयसेन स्वामी इसका खुलासा करते हुए बौद्धमत की अपेक्षा से लिखते हैं कि यदि कोई यहां आशंका करें कि जैनमत और बौद्धमत की तुलना में बौद्धपक्ष को दूषित कहना ठीक नहीं तो समाधान इस प्रकार है -

प्रश्न :- सौगत (बौद्ध) मत में सर्वज्ञपना व्यवहार से है तो उन्हें आप दूषण क्यों देते हो - क्योंकि जैन मत में भी पर पदार्थों को जानना व्यवहार से कहा गया है ?[१६३]

उत्तर :- सौगतादि मतों में जिस प्रकार निश्चय की अपेक्षा व्यवहार असत्य है तथैव व्यवहार रूप से भी वह असत्य है.जबकि जैन मत में वह व्यवहार की अपेक्षा सत्य है।[१६४] यदि इस तथ्य की उपेक्षा की गई तो लोक व्यवहार का संलोप हो जायेगा तथा अतिप्रसंग दोष आयेगा अतः आत्मा व्यवहार से पर द्रव्य को ज्ञाता द्रष्टा है।[१६५] किन्तु निश्चय से स्वयं का ज्ञाता द्रष्टा है[१६६] दोनों नय तीर्थङ्कर द्वारा उपदिष्ट होने से सत्य है,[१६७] विषय विवक्षा अवश्य पृथक-पृथक है किन्तु वस्तु भेद नहीं है। जैन नय की विवेचना में चाहे वह किसी भी स्थल पर हो सामयिक सापेक्षता को महत्त्व दिया गया है तथा अन्य पक्ष को उस समय गौण (अनर्पित) करके स्वीकार किया है[१६८] अर्थात् निश्चय पक्ष की अपेक्षा में व्यवहार और व्यवहार की अपेक्षा में निश्चय पक्ष गौण हैं। इस प्रकार सम्यक् दृष्टिकोण अपना कर नय दृष्टि के मर्म को सार्थक रूप से समझा जा सकता है।

१६१. बंध कहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई। - समयसार गाथा ३
१६२. व्यवहार देसिदा पुण जे अपरमेट्ठिदा भावे। - स. सा. गा. १२
१६३. ववहारणयो भासदि जीवो देहोय हवदि खलु इक्को। - स. सा. गा. २७
१६४. ववहारस्सदरीसण मुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा - स. सा. गा. ४६
१६५. जह सेडिया दुण परस्स सेडिया यसा होई।
तह जाण ओ दुण परस्स जाणओ जाणओ सोदु॥
तह पासओ दुण परस्स पासओ पासओ सोदु॥ - स. सा. गा.३५६-५७
१६६. अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइओ सदारूवी। णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं वि। - स. सा. गा. ३८
१६७. देखो संदर्भ १४२-४३
नान्यथा वादिनो जिनाः। - आ.प. श्लोक ५
१६८. अर्पितानर्पित सिद्धेः। - तत्वार्थ सूत्र ५/३२

अशुभोपयोग :

उपयोग को परिभाषित करते समय आचार्यों ने जीव की वर्तमान स्थिति को दृष्टि में रखते हुए अशुभोपयोग की सार्थक विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है. प्रवचन कार के शब्दों में विषय कषायों में संसक्त परिणति या अनुष्ठानात्मक भाववृत्ति रूप उपयोग कुश्रुत श्रवण तथा उसके प्रति ही अनुराग, उन्मार्गी प्रवृत्तियां, आर्त रौद्र ध्यान पर की, निंदा, विकथा में तल्लीनता आदि अशुभोपयोग का प्रमुख लक्षण है।[१६९] इस उपयोग से अभिभूत जीव कषायाग्नि, इन्द्रिय विषय जन्य विषयाग्नि से पीड़ित होकर संसार परिवर्द्धक अशुभ कर्मों का संचय करता है।[१७०] मिथ्यात्वादि पंच प्रत्यय रूप अशुभोपयोग से परिणत आत्मा अशुभ कहलाता है।[१७१] शुभ भाव के विपरीत निर्दयता, मिथ्याज्ञान - दर्शन रूप उपयोग पापास्रव का कारण है।[१७२] ध्यान में आर्त रौद्र ध्यान भी इसी कोटि का भाव है।[१७३] हिंसादि पांच पापों में क्रोधादि चार कषायों में मिथ्याज्ञान में पक्षपात में मात्सर्य भाव में अशुभ लेश्या में, विकथा में, असूया में दण्डों में (मन वचनकाय की अशुभ प्रवृत्ति) शल्य मान बड़ाई ख्याति पूजा इत्यादि क्रियाओं में जो प्रवृत्ति होती है वह सब अशुभ भाव है।[१७४] इसी विचार पर विशिष्ट प्रकाश डालते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द जी लिखते हैं विशिष्ट उदय दशा में रहने वाले दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय रूप कर्म पुद्गलों के अनुसार परिणति में प्रवृत्ति संसक्ति, अशुभ उपराग वश परमभट्टारक महादेवाधिदेव अर्हंत सिद्ध और साधु के सिवाय अन्य उन्मार्गी की श्रद्धा में तल्लीनता तथा विषय कषाय में रूचि चिंतन मनन संगति

१६९. विषयकषाया व गाढो .. मिथ्या शास्त्रश्रुतिर्वा दुश्चित्तम् .. कामभोगचिंता परिणतं .. कुशील पुरूषगोष्ठी उग्रः उन्मार्ग परः .. तत्परिणत पुरूषोवेत्यशुभोपयोगो मण्यते इति .. ।
- प्रवचनसार, ता. वृ. गाथा, १५८

१७०. कषाय दहनो दीप्तं विषयैव्याकुली कृतम् । सञ्चिनोति मनः कर्म जन्म सम्बन्ध सूचकम् । ज्ञानार्णव (आस्रव भावना) टीका पृ. ३३ ॥ ४ ॥

१७१. मिथ्यात्वाविरति प्रमाद कषाय योग पञ्च प्रत्यय रूपा शुभोपयोगेनाशुभो विज्ञेयः ॥ प्रवचनसार, ता.वृ. गा. ९, पृष्ठ २० ॥

१७२. विपरीदं पावस्य दु आसव हेउ वियाणाहि । - मू.आ.गा.२३५
शुभः पुण्यस्या शुभः पापस्य । - तत्वार्थ सूत्र ६/३

१७३. अशुभश्च आर्त रौद्रम् । - आ.पा. ७६

१७४. हिंसादिसु कोहादिसु मिच्छाणाणेसु पक्खवायेसु ।
मच्छरि देसु मदेसु दुरहिणिवेसेसु असुहलेस्सेसु ।
विकहादिसु रूद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु ।
सल्लेसु गारवेसु य जो वट्टदि असुहभावो सो । - रयणसार ५८,५९

और तदनुरूप उग्र परिणति में प्रवृत्ति है यह सब अशुभोपयोग है।[१७५] इस प्रकार ज्ञानी आचार्यों ने अनेक प्रकार से अशुभोपयोग को परिभाषित किया है तथा इस मार्ग से विरत रहने की निरंतर प्रेरणा की है क्योंकि यह उपयोग प्राणी मात्र के लिए अत्यंत अहितकारी है। इससे न केवल अशुभ कर्मों का आस्रव बंध होता है अपितु उसके परिणाम स्वरूप (आत्मा) जीव गर्हित रूप, संस्थान, गति, नारक, तिर्यञ्च कुमानुष पर्याय को प्राप्त कर असह्य दुःख सागर में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता रहता है।[१७६] अतः संसार संवेगी भव्य प्राणियों को, जो पाप रूप अधर्म है, ऐसे अशुभोपयोग से सदैव विरत रहना चाहिए।[१७७]

शुभोपयोग :

आचार्य श्री कुन्द कुन्द स्वामी ने परमार्थभूत देव, यति (साधु) गुरू (शिक्षा-दीक्षा) पूजा दानादि उपवासादि तप एवं सुशील युक्त (पांच समिति तीन गुप्ति) प्रवृत्तियों को शुभोपयोग कहा है।[१७८] जो भव्य जिनदेव को जानता है, सिद्ध परमेष्ठी का स्मरण करता है और अनगारों की श्रद्धा-भक्ति समस्त जीवों पर अनुकम्पा बुद्धि रखता है वह शुभोपयोगी है।[१७९] उक्त विवेचना में गृहस्थ की अपेक्षा सरागसंयम युक्त दान पूजादि शुभानुष्ठान, तपोधन श्रेष्ठ की अपेक्षा मूल उत्तर गुण युक्त शुभ परिणति, शुभ उपयोग कहलाता है तथा ऐसे जीव शुभोपयोगी कहलाते हैं।[१८०] वैसे भी शुभोपयोग की सीमा में अनेक प्रवृत्तियां समाहित हैं. जैसे - प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि, दान, पूजा, व्रत, शील रूप शुभराग चित्त प्रसाद रूप परिणाम आदि।[१८१] इसी लक्ष्य पर जोर देते हुए आचार्य श्री ब्रह्मदेव सूरि ने कुछ शुभोपयोगी प्रवृत्तियों की ओर

१७५. देखो संदर्भ १६९.

१७६. असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो। दुक्ख सहस्सेहिंसदा अभिधुदो भमदि अइतं ॥ प्रवचनसार गाथा १२

१७७. ततश्चारित्रलव स्याप्य भावादत्यन्त हेय एवायमशुभोपयोग इति ।
– **प्रवचनसार**, गाथा १२, आ.टीका

१७८. देवद जदि गुरू पूजा सु चेव दाणम्मि वा सुसीलेषु। उववासादिसु रत्तो सुहोव ओगप्प गो अप्पा ॥
– **प्रवचनसार**, शुभोपयोग गा. ६९

१७९. जो जाणादि जिणिं दे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे। जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥ – **प्रवचनसार**, गाथा, १५७

१८०. सराग सम्यक्त्वपूर्वक दान पूजादि शुभानुष्ठानेन, तपो धनापेक्षया तु मूलोत्तर गुणादि शुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्य इति। – **प्रवचनसार**, गाथा ९, ता.वृ. टीका पृ. २०

१८१. प्रतिक्रमणाद्यष्ट विकल्परूपः शुभोपयोगो
– **समयसार**, ता.वृ. टीका, पृ. 254, गाथा 326-27

इंगित करते हुए उनकी प्राप्ति के लिए उद्यत रहने की प्रेरणा की है. जैसे प्रत्येक प्राणी को मिथ्यात्व रूपी विष का वमन, सम्यग्दर्शन की भावना, भक्ति ज्ञानाराधना, महाव्रतों का परिपालन, कषायों का विसर्जन, इंद्रियों का दमन बाह्याभ्यंतर तपों का उद्यम निरंतर करना चाहिए। व्रत समिति गुप्ति रूप तेरह प्रकार का चारित्र होने पर भी बाह्याभ्यंतर क्रियाओं के निरोध रूप संयम से रहित शुभोपयोगी लक्षण वाला यह संयम सराग चारित्र कहलाता है।[१८२] शुद्धोपयोग रूप परमोपेक्षा संयम में असमर्थ साधक शुद्धात्म भावना के सहकारी भूत जो कुछ भी प्रासुक आहार, ज्ञानोपकरणादि को ग्रहण करता है वह सब अपवाद रूप है इसी को व्यवहार चारित्र की संज्ञा प्राप्त है।[१८३] श्रमणों में (पंच परमेष्ठी) अनुराग वृत्ति, परमागम ज्ञाता मुनिजनों में वात्सल्य वृत्ति का भाव शुभोपयोग कहलाता है।[१८४] जो (शुभोपयोगी) मुनिजन सराग चारित्र में प्रवृत्त हैं उनको यह भाव बराबर होता रहता है. उनमें वीतराग संयम में स्थित श्रमणों के प्रति श्रद्धा, विनय, वैय्यावृत्ति की भावना होना निषिद्ध नहीं है।[१८५] अनिष्टज वस्तु के संयोग में उत्पन्न खेद को दूर करना, गुणानुवाद रूप स्तुति करना, गमनागमन काल में विनय करना इत्यादि प्रवृत्तियां तो सहज हैं, इनका निषेध नहीं. अपितु धर्म मर्यादा के अनुसार उनका होना स्वाभाविक है। अचरज तो तब होता जब उनमें इन आत्म कल्याणकारी शुभ प्रवृत्तियों का अभाव होता। निश्चय से सराग मुनियों की प्रवृत्तियों में-शिष्य संग्रह-पोषण, जिन भक्ति पूजन की प्रेरणा, उपदेश, सम्यग्दर्शन ज्ञान का प्रकाश करना प्रमुखता से शामिल है।[१८६] प्रवचन सार गाथा (47-52) के माध्यम से आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने चुतुर्विध श्रमण संघ की षट्काय जीव विराधना रहित

१८२. पञ्च महाव्रत पञ्च समिति त्रिगुप्तिरूपमप्यपहृत संयमाख्यं शुभोपयोग लक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति। - वृहद् द्रव्य संग्रह, टीका पृ. १५५, गाथा ४५, पंक्ति २-३

१८३. तत्रासमर्थः पुरुषः शुद्धात्म भावना सहकारी भूतं किमपि प्रासुकाहार ज्ञानोपकरणादिकं गृहणातित्यपवादो व्यहारनय एक देश परित्यागस्तथा चापहृत संयमः सराग चारित्रं शुभोपयोग इति। - **प्रवचनसार**, गाथा २३०, ता.वृ.

१८४. अरिहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु। विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया॥ - **प्रवचनसार**, गाथा २४६।

१८५. वंदण णमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणु गमण पडिवत्ती। समणेसु समावण्णो ण णिंदिदा राय चरियम्हि॥ - **प्रवचनसार**, गाथा २४७

१८६. दंसण णाणुव देसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं। चरिया हि सरागाणं जिणिंद पूजो व देसोय॥ - **प्रवचनसार**, गाथा २४८

सेवा वैय्यावृत्ति को मुनियों के लिए सराग धर्म प्रधान शुभोपयोगी कहा है।[१८७] श्रावकों को उपदेश देते हुए स्पष्ट कहा है कि देश संयमी श्रावक तथा सकल संयमी मुनि निष्कामवृत्ति से मात्र अनुकम्पा भाव से उपकार करें तो वह क्रिया निर्दोष है।[१८८] यद्यपि इस शुभाचरण से किंचित् सावद्यता है फिर भी वह दोष रूप नहीं है. आज्ञापरक उपदेश की सीमा में तो वे मुनिजनों को यहां तक कहते हैं कि मुनिजन शुभोपयोगी मुनिजन रोग भूख पिपासा श्रम आदि से यदि पीड़ित हैं तो यथाशक्ति उनकी वैय्यावृत्ति में तत्परता से प्रवृत्त हों।[१८९]

इस संदर्भ में क्वचित् कदाचित् लौकिक जनों से चर्चा भी संघ संचालन की दृष्टि से आचार्य, संघनायकों को निषिद्ध नहीं है।[१९०] मुनियों के यह चर्चा शुभोपयोग रूप है तथा गृहस्थों को विशेषता अधिक होती है।[१९१] परमागम में वर्णित इस शुभाचार रूप प्रवृत्ति (शुभोपयोग) से श्रावक तथा मुनि दोनों उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करते हैं।[१९२]

जीव निर्विकल्पक समाधि रूप शुभोपयोगात्मक शक्ति के अभाव से जब शुभोपयोग रूप सराग चारित्र के द्वारा परिणमन करता है तब वह स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है तथा परमसमाधि की सामग्री के सद्भाव होने पर मोक्ष प्राप्त करता है।[१९३] इस प्रकार शुभभाव की सीमा में द्रव्य, तत्व, पदार्थ, बंध, मोक्ष, अनुप्रेक्षा बारह भावनाओं का चिंतन मनन रत्नत्रय रूप धर्म में रूचि-प्रवृत्ति करना इत्यादि

१८७. उवकुणदि जोवि णिच्चं चा दुव्वण्णस्स समण संघस्स। काय विराधण रहिदं सो वि सरागप्पधाणो से॥ – **प्रवचनसार**, गाथा २४९

१८८. जोण्हाणं णिरवेक्खं सागार णगार चरिय जुत्ताणं। अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो॥ – **प्रवचनसार**, गाथा २५१

१८९. रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं। दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जादु आदसत्ती ए॥ – **प्रवचनसार**, गाथा २५२

१९०. वेज्जा वच्च णिमित्तं गिलाण गुरूवाल बुड्ढ समणाणं। लोगिग जण संभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा॥ – **प्रवचनसार**, गाथा २५३

१९१. एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणा धरत्थाणं। चरिया परेति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं॥ – **प्रवचनसार**, गाथा २५४

१९२. येनाद्य काले यतीनां वैय्यावृत्तं कृतं मुद। तेनैव शासनं जैनं प्रोद्यतं शर्मकारणम्। – **रत्नमाला ३१** (आ. शिवकोटि कृत)

१९३. सुहस्स य णिव्वाणं। – प्र. सा. २७४
यद्यप्यात्मा शुद्धात्मानुभूत्यभावे सति शुभा शुभपयोगाभ्यां परिणम्य जीवित मरण शुभाशुभ बन्धान् करोति। शुद्धात्मानुभूति सद्भावे तु शुद्धोपयोगेन परिणम्य मोक्षं च करोति।
– **परमात्म प्रकाश**, टीका १।६८

अनेक सत्कार्य समाहित हैं।[१९४] विषय कषायों से विरक्त जिस भव्य प्राणी की इस रूप में प्रवृत्ति है वह शुभोपयोगी है।[१९५]

शुभोपयोग का वर्णन जिनागम में मुख्य रूप से दो प्रकार से मिलता है 1. परंपरा से मुक्ति हेतुक 2. मात्र पुण्य बंधक[१९६]

गुणस्थान 4-6 तक पुण्य बंध के साथ परंपरा से मुक्ति हेतुक शुभोपयोग पाया जाता है तथा गुणस्थान 1-3 तक नियम से मात्र पुण्यबंधक शुभोपयोग संभव है- मुक्ति हेतुक नहीं.

धर्मध्यान और शुभोपयोग :

४-६ गुणस्थानों में यथासंभव धर्मध्यान के साथ शुभोपयोग तथा आर्त रौद्र ध्यान के साथ अशुभोपयोग पाया जाता है।[१९७] पर ध्यान व उपयोग एक समय एक ही पाये जाते है। अथवा शुभोपयोग से वासित योगों की वृत्ति शुभ तथा अशुभोपयोग से वासित योगों की वृत्ति अशुभ है। किन्हीं आचार्यों के मत से (स.सा./ता.वृ. १९४/२६८/१४) सम्यग्दृष्टि के अशुभ योग के होने पर भी शुभोपयोग संभव है यथा सम्यग्दृष्टि यद्यपि आत्मा से उत्पन्न सुखकोही उपादेय जानता है और विषय सुख को हेय जानता है तथापि चारित्र मोह के उदय रूप (कोतवाल के द्वारा पकड़ा हुआ उन) वैषयिक सुख-दुःख को भोगता है। इस कारण उसके लिए वे निर्जरा के विभिन्न ही है। तथा इन गुणस्थानों में व्यवहार ही धर्मध्यान होता है निश्चय नहीं क्योंकि निश्चय धर्मध्यान सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से ही प्रारंभ होता है इसके नीचे ८४, ५, ६ गुणस्थान में उपचार से ही धर्मध्यान होता है ऐसा जानना चाहिए।[१९८]

१९४. दव्वाित्थकाय छप्पण तह पयत्थसु सत्तणवगेसु।
बंधणमोक्खे तक्कारण रूवे वार साणु वेक्खे। रयणत्तस्स रूपे अत्र कम्मे दयाइ सद्धम्मे॥
इथेव माइगे जो वट्टदि सो होदि सुहभावो। - रयणसार, गाथा ६०-६१

१९५. एतेषुशुभानुष्ठानेषु योसौरतः द्वेषरूपे विषयानुरागे चाशुभानुष्ठाने विरतः सच शुभोपयोगी भवति। - प्रवचनसार, ता.वृ. गा.६९

१९६. प्र. सा./आ.टी./अ.३ गा. ५५

१९७. भा.पा.गा. ७६

१९८. मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमाय विरहिए ठाणे।
देश विरए प्रमत्ते उवयारेणेव णायव्वं॥
गृहस्थ को धर्मध्यान औपचारिक दृष्टि से है (भावसंग्रह गाथा 371)
धवला पु. 13 पृष्ठ 76 गाथा 55, मोक्षपाहुड गाथा 2 की टीका में भी इसी धारणा की पुष्टि की गई है।
जिण साहुगुणुक्कित्ताणं प्रसंसणा विणय दाण संपण्णा।
सील संजम रदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा॥

शुभयोग प्रशस्त राग से शुभास्रव :

आचार्यों ने आस्रव में भाव को प्रमुखता दी है अर्थात् जिस स्तर की भावना या भाव होंगे तदनुरूप आस्रव होगा। शुभोपयोग की दशा में योग (मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना) भी शुभ होगा इसे प्रशस्त राग भी कहा जा सकता है। जीवों पर दया, शुद्धमन वचन काय की क्रिया शुद्ध दर्शन ज्ञान रूप उपयोग ये सभी पुण्य कर्म के आस्रव के कारण हैं।[१९९] यम, प्रशम, निर्वेद, तत्त्व चिंतन मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना की प्रबलता जिन भव्यात्माओं में होती है उनके शुभास्रव होता है।[२००] अनुकम्पाभाव एवं शुद्ध शुभ उपयोग तो पुण्य के मुख्य आस्रव भूत हैं।[२०१] उपयोग यदि शुभ है तो जीव को पुण्य संचय होता है।[२०२] जीव के शुभ परिणाम पुण्य है।[२०३] शुभ परिणामों से पुण्य रूप व्यवहार धर्म मुख्यता से होता है।[२०४] दान पूजा व्रत शील आदि शुभ राग तथा चित्त प्रसाद रूप परिणाम शुभ है।[२०५] वीतराग परमात्म द्रव्य से विलक्षण पंच परमेष्ठी के प्रतिगुणानुराग प्रशस्त धर्मानुराग है। अनुकम्पायुक्त परिणाम एवं दयासहित मनवचन काय के व्यापार रूप परिणाम शुभ परिणाम हैं तथा चित्त में कालुष्य का न होना, जिसके उक्त शुभ परिणाम होते हैं उसके द्रव्य पुण्यास्रव का

१९९. देखो संदर्भ, १७२

२००. यम प्रशम निर्वेद तत्व चिन्तावलम्बितम्।
मैत्र्यादि भावना रूढं मनः सूते शुभास्रवम्। ३।
– **ज्ञानार्णव** (आस्रव भावना) पृष्ठ ३२ अ.२

२०१. प्रशस्त धर्मानुराग : ...
अशुकंपा दया सहितो मनवचन काय व्यापार रूपः शुभ परिणामः नास्ति कालुष्यं मनसि क्रोधादिकलुष परिणामोनास्ति : पूर्वोक्त त्रयः परिणामा संति। तस्य जीवस्य द्रव्य पुण्यास्रव कारणभूतं भाव पुण्यामास्रवतीति। – पं. काय. गा.१३५, ता.वृ., पृष्ठ १९९, पंक्ति १२ से
शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य। – **तत्वार्थ सूत्र** ६/३

२०२. उवओगो जदिहि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि। असुहो वा तध पाव तेसिमभावे ण चयमत्थि॥
– **प्रवचनसार**, गा. १५६

२०३. सुह परिणामों पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स। दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावोकम्मत्तणं पत्तो – **पंचास्तिकाय** ॥ १३२ ॥ पृ. १९५

२०४. सुह परिणामे धम्मु पर असुहे होउ अहम्मु।
दोहि वि एहिं विवज्जियउ सुद्धुण बंधइ कम्मु॥ 71
– **परमात्म प्रकाश**, अ.2, दोहा 71

२०५. दानपूजा व्रतशीलादि रूपः शुभरागश्चित्त प्रसाद परिणामश्च शुभ इति सूत्राभि प्रायः।
– **पंचास्तिकाय**, ता.वृ. गाथा १३१
पूयादिसु वय सहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं। मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो॥
– **भावपाहुड** ॥ ८३

कारणभूत भाव पुण्यास्रव होता है।[२०६] जिन शासन में व्रत सहित पूजादिक को पुण्य कहा गया है और मोह क्षोभविहीन आत्मा के परिणाम को धर्म कहा है।[२०७] जिस जीव के प्रशस्त राग है, अनुकम्पा युक्त परिणाम है,चित्त में कलुषता का अभाव है, उसके पुण्यास्रव होता है।[२०८] दया, विशुद्ध योग, विशुद्ध ज्ञान दर्शनादि उपयोग पुण्यास्रव के प्रमुख आधार है।[२०९] क्योंकि व्रती को ही विशुद्ध परिणामों की प्राप्ति तथा निर्दोष व्रत चर्या संभव है और उसी भावना से पुण्यास्रव होता है।[२१०] धर्म पंथ में अग्रसर जनों के दर्शन,तत्संबंधित क्षेत्रों की वंदना,पूज्यजनों की भक्ति आदर सद्भाव विनय करना, उपनयन, संसार से डरना,प्रमाद का त्याग करना इत्यादि कार्यों से शुभनाम कर्म की प्रकृतियों का आस्रव होता है।[२११] पुण्यास्रव संबंधी ऐसे अनेक अनगिन कारणों को उल्लेखित किया जा सकता है.जैसे-पंच परमेष्ठी की भक्ति, जीवों पर करूणाभाव, चारित्र में प्रीति, तत्त्वचिंतन, व्रत संयम समता भाव मैत्री प्रमोदादि भावनाएं, इन सभी के माध्यम से भव्यजन शुभास्रव अर्जन करते हैं।[२१२] संयमी कायोत्सर्गी मुनिजन विश्व व्यापार से रहित श्रुत ज्ञानावलम्वी सत्य रूप पारिणामिक वचन से निरंतर शुभास्रव (शुभ कार्य) करते हैं ऐसा जिनागम सूत्र है।[२१३]

शुभयोग से संवर निर्जरा :

शुभोपयोग से पुण्यास्रव मात्र नहीं होता अपितु उससे संवर निर्जरा भी निरंतर होती है,[२१४] अलबत्ता यह प्रश्न मन में उठना स्वाभाविक है जो आस्रव का

२०६. रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदोय परिणामो।
धिते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि॥
– **पंचास्तिकाय.** गा. १३५, पृष्ठ १९९

२०७. व्रत समिति गुप्त्यादि बहिरंग चारित्रानुष्ठान वशेन स्वशुद्धात्म नि निश्चल परिणति रूप वीतराग चारित्र परिणमत्वात् परम वीतराग चारित्रे सम्यगम्युत्थितः उद्यतः स श्रेमण एव भेदनयेन धर्म इति विशेषतो मोहक्षोभ विहीनात्मपरिणाम रूपो निश्चय धर्मो गणित इत्यर्थः।
– **प्र.सा. ता.वृ. गा.९२**

२०८. देखो संदर्भ, २०६

२०९. मू. आ. (मूळ) २६५

२१०. तद्विपरीतं शुभस्य। – **स. सि. ६/२३**

२११. तत्वार्थ सूत्र ६/२३-२४

२१२. देखो संदर्भ, २००

२१३. विकहादि विप्पमुक्को आहाकम्मादिविरेहिदो जागी। धम्मद्देसण कुसलो अणुपेहा भावणा जुदो जोई। – **रयणसार ९४।**

२१४. वद समिदी गुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओय।चारित्तं बहुभेया णायव्वा भाव संवर विसेसा॥ – **वृहद् द्रव्य संग्रह.** संस्कृत टीका, गाथा ३५, पृ. ८०

कारण हो उसे संवर निर्जरा का कारण बताना कहां तक तर्क संगत है. क्या एक साथ जीव के दो उपयोग-मयी प्रवृत्ति संभव है ? आचार्य भगवंत कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उक्त आशंका का निवारण करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जहां शुभोपयोग से शुभास्रव होता है वहां अशुभोपयोग की निवृत्ति से संवर या निर्जरा दोनों का मार्ग प्रशस्त होता है।[२१५] कारण कि दोनों के संदर्भ भिन्न-भिन्न हैं। आस्रव का कारण प्रवृत्ति है तो अशुभ निवृत्ति कारण है संवर निर्जरा की।[२१६] अशुभ से हटना तथा शुभ में लगना इसमें कोई बाधा भी नहीं है.इसके सिवाय दोनों उपयोग किसी भी जीव के एक साथ संभव नहीं है। यहां इनकी स्थिति इस प्रकार जानना चाहिए जैसे अंधकार की निवृत्ति और प्रकाश का सद्भाव,दोनों का सद्भाव एक जगह संभव होता है। तदैव अशुभ निवृत्ति तथा शुभ प्रवृत्ति को जानना चाहिए. इस स्थिति को आचार्य श्री कुंद कुंद जी ने संवर शब्द से मान्य किया है तथा आचार्य श्री जयसेन जी, श्री ब्रह्मदेव सूरि आदि अनेक आध्यात्मवेत्ताओं ने इसी मत का समर्थन किया है।[२१७] आचार्यों की इस धारणा को भूल या पक्ष व्यामोहता नहीं कहा जा सकता.अपितु सिद्धांत की सुदृढ़ स्पष्ट विवेचना है। इसी कारण से संवर चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होकर अग्रिम गुणस्थानों में जो संवर है वह शुभोपयोग व्रत, समिति, गुप्ति आदि भाव-संवर के कारणभूत जिन कारणों का व्याख्यान किया है उनमें निश्चय रत्नत्रय का हेतु व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोग है, उसका निरूपण करने वाले जो वाक्य हैं वे सब पापास्रव के संवर में कारण रूप जानना चाहिए।[२१८] मुनियों की दैनंदिनी क्रियाओं में कृतकर्म का

२१५. संमत्तं देस वयं महव्वयं तह जओ कसायाणं एदे संवर णाम जोगाभावो तहा चेव।
– का.अ.गा.९५।

२१६. सुहजोगस्स पवित्ति संवरणं कुणदि असुहजोगस्स – वा. अ., गा. ६३
स समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चरित्रैः.....। तपसा निर्जरा च। तत्वार्थसूत्र ९/२-३

२१७. चेदण परिणामो जो कम्मस्सासव णिरोहणे हेदू। सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णा। – वृ. द्र. सं., गा. २/३४

२१८. देखो संदर्भ २१४
जन्म जन्म कृतं पापं जन्म कोट्यामुपार्जितम्।
जन्म मृत्यु जरा रोगं, हन्यते जिन दर्शनात्।
अद्याभवत्सफलता नयन द्वयस्य देव त्वदीय चरणाम्बुज वीक्षणेन।
अद्य त्रिलोक तिलक प्रतिभासते मे संसार वारिधिरयं चुलुक प्रमाणम्। (दर्शन पाठ)
सम्यग्ज्ञान चरित्र दर्शनलता संवृद्धि संपादकं कीर्ति श्री जय साधक तव जिन स्नानस्यं गंधोदकम् (अभिषेक पाठं)

वर्णन करते हुए आचार्य ने इन्हें नित्य करने का उपदेश दिया है क्योंकि ये सभी मोक्षमार्ग में कारणभूत अविपाक कर्मों की निर्जरा के स्थान (हेतु) हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुभोपयोग भी संवर निर्जरा का कारण है।

मोक्ष हेतुक शुभोपयोगी पुण्य आचरणीय :

जिन कथित आगमिक सूत्रों के मर्म को ठीक से न समझ सकने वाले श्रावकगण मोक्षमार्ग की साधना में पुण्य को सर्वथा हेय मानकर उसकी उपेक्षा करते हैं किन्तु वास्तविकता इससे परे है। आचार्यों ने आगमिक ग्रन्थों के मर्म को उद्घाटित करते हुए अनेक स्थलों पर इस भ्रम का साधार निराकरण किया है और सम्यग् दृष्टि को भी शुभोपयोगी पुण्यास्रव करने की प्रेरणा की है क्योंकि वह भी मोक्ष का हेतु है।[२१९] यहां जिज्ञासुओं के मन में पुण्य के फल जानने की तीव्र भावना होना स्वाभाविक है.क्योंकि फल को जाने बिना कर्म की ओर दौड़ना ज्ञानीजनों का कार्य नहीं है.आचार्य भगवंत इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कथन करते हैं कि महापुरुषों के जीवन में प्राप्त दृष्टव्य विशेषताओं की ओर हमें देखना चाहिए यथा :-

प्रश्न :- पुण्य के फल कौन से हैं ?

उत्तर :- तीर्थङ्कर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, देव विद्याधर इत्यादि को प्राप्त ऋद्धियां पुण्य के फल हैं,[२२०] तथा इसी क्रम से उत्तम गति प्राप्त करते हुए धर्म (पुण्य) से भव्य जन मोक्ष प्राप्त करते हैं।

---

२१९. सम्यग्दृष्टिर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्। कथं पुण्यं करोतीति ? तत्र युक्तिमाह। यथा कोऽपिदेशान्तरस्थमनोहरस्त्री समीपादागतपुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति चारित्रमोहोदयात्तत्रासमर्थः सन् निर्दोष परमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां च परमात्मपद प्राप्त्यर्थं विषयकषायवंचनार्थं च दानपूजादिना गुणस्तवनादिना वा परमभक्तिं करोति तेन भोगाकांक्षादि निदानहित-परिणामेना कुटुम्बिनां पलालमिव अनीहितवृत्या विशिष्ट पुण्यमश्नवति तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलोकान्तिकादिविभूतिं प्राप्य विमानपरिवारादिसंपदं जीर्णतृणमिव गणयन् पंचमहाविदेहेषु गत्वा पश्यति। किं पश्यतीति चेत् तदिद समवसरणं त एते वीतरागसर्वज्ञाः त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरादेवादयो ये पूर्वश्रूयन्ते त इदानीं प्रत्यक्षेणदृष्टा इति मत्वा विशेषण दृढधर्ममति भूत्वा चतुर्थ गुणस्थान योग्यामात्मनो विरतावस्थामपरित्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्म ध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थकरादिपदे प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावित विशिष्ट भेदज्ञान वासनाबलेन मोहं न करोति ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा पुण्यपापरहितनिज परमात्मध्यानेन मोक्षं गच्छतीति।

– बृ.द्र.सं.टीका २/३८

२२०. तित्थयर गणहर रिसि चक्कवट्टि बलदेव – वासुदेव–सुर विज्जाहरिद्धीओ।

– धवला पु.१.१,१,२, पृ. १०६, पंक्ति ५ – रयणसार गा. २०

धर्म से बढ़कर कोई वस्तु संसार में श्रेष्ठ नहीं है, इससे रहित जीवन पशु तुल्य है। (धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना) ज्ञानीजन आत्मपरिणाम को ही पुण्य पाप का कारण मानते हैं। इसलिए अपने निर्मल परिणामों द्वारा पूर्वोपार्जित कर्म की निर्जरा, नवीन का निरोध और नया पुण्यार्जन निरंतर करना चाहिए।[२२१] भव सागर में डूबते प्राणियों को तारने वाला धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई सुदृढ़ पोत (जहाज) नहीं है।[२२२] सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग में शुभोपयोग पूर्वक (पुण्य संचय पूर्वक) क्रमशः मोक्ष प्राप्ति होती है।[२२३] क्रमशः इसलिए भी होती है कि अनंतकाल से पाप कर्म किट्टिमा से संसक्त जीव की विशुद्धता में कुछ समय लगना अपरिहार्य है और वह क्रमशः सीढ़ी दर सीढ़ी आरोहण करता हुआ अपना उज्जवल स्वरूप प्रकट करने की सामर्थ्य प्राप्त कर पाता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि का पुण्य उससे प्राप्त वैभव, सिद्धियां, ऋद्धियां महत्त्वपूर्ण है और उनके आधार से संसार परिभ्रमण का चक्र टूटता है।[२२४] अलबत्ता इतना जरूर है कि उसकी भावना में निदान की भूमिका न हो। निदान रहित पुण्यभावना और सकल प्रवृत्तियां मोक्ष का हेतु बनती है।[२२५]

२२१. वीतरागनिर्विकल्प समाधि रूपा यस्य शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्र पुराण तपश्चरणानि निरर्थकानि भवन्ति तर्हि किं सर्वथा निष्फलानि। नैवम्। यदि वीतराग सम्यक्त्व रूपस्वशुद्धा त्मोपादेय भावनासहितानि भवन्ति तदा मोक्षस्यैव बहिरंग सहकारि कारणानि भवन्ति तद्भावे पुण्यबन्धकारणानि भवन्ति। – प.प्र.टी.वृ.१।९८

२२२. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक ४४ तथा विनयपाठ (मंगल नाथूराम यह भवसागर दृढ पोत)

२२३. तव संजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्ग मग्गकरो। अमरा सुरिंद महिदो देवो सो लोय सिहरत्थो॥ – प्र.सा. ७९–१

शुभोपयोग स्य सर्वज्ञ व्यवस्थापित वस्तुषु प्रणि हितस्य पुण्योपचय पूर्व कोऽ पुनर्भावोपलम्भः ...। – सा.ता.वृ. गाथा २५६

यदा पूर्व सूत्र कथित न्यायेन सम्यक्त्व पूर्वकः शुभोपयोग भवति तदा मुख्य वृत्या पुण्य बन्धो भवति परंपरया निर्वाणं च। नो चेत् पुण्य बंधमात्रमेव॥ – प्र.सा.ता.वृ.३।५५

२२४. सम्यक्त्वपूर्वक–देवशास्त्रगुरू भक्त्या मुख्यवृत्या मोक्ष कारणं न भवत्युद्या देयं च न मोक्षः। अत्राह प्रभाकरभट्टः। यदि पुण्यंमुख्यकृत्य मोक्ष कारणं न भवत्युपादेयं च न भवति तर्हि भरतसगर रामपांडवादयोऽपि निरंतरं पंचपरमेष्ठिगुणस्मरणदानपूजादिनानिर्भरभक्ताःसन्तः किमर्थं पुण्योपार्जनं कुर्युरिति। भगवानाह यथा कोऽपि रामदेवादि पुरूषोवशेषो देशान्तरस्थित सीतादि स्त्री समीपागतानां पुरूषाणं तदर्थं संभाषणदानसन्मानादिकं करोति तथा तेऽपि महापुरूषाः वीतरागपरमानन्दैकरूप मोक्षलक्ष्मी सुख सुधारसपिपासिताः सन्तः। संसार स्थिति विच्छेद कारणं विषय कषायोत्पन्न दुर्ध्यान विनाश हेतुभूतं च परमेष्ठि संबंधि गुणस्मरण दान पूजादिकं कुर्युरिति। – प.प्र.टी.२।६१ पृ. १८

२२५. सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होई संसार कारणं णियमा।
मोरखस्स होइ हेऊं जहवि णियाणं ण से कुणई॥ – भा./ स. ४०४

मिथ्यात्व पूर्वक पुण्य हेय :

सम्यग्दृष्टि अनंत सुख प्राप्त करते हैं.जो प्राणी सम्यकत्व रहित पुण्य क्रिया में संलग्न हैं वे भी संसार में अल्प सुख पाकर परिभ्रमण की सीमा में निरंतर वृद्धि करते रहते हैं।[२२६] दोनों की क्रियाफल में बस यही विशेषअंतर है। सम्यग्दर्शन सहित मरण श्रेष्ठ है किन्तु विमुख रहकर पुण्य करना योग्य नहीं है।[२२७] मिथ्या दृष्टि के अहिंसादि व्रताचरण उसे संसारिक अल्पसुखों की प्राप्ति अवश्य कराते हैं परन्तु आरम्भादि की आसक्ति से उसे नरक भी पहुंचाते है[२२८] क्योंकि इस प्रकार के पुण्य भवभोगों की आकांक्षा से विरक्ति कदापि संभव नहीं हो पाती और रावण आदि जैसे प्राणियों की तरह नरक का पात्र होता है।[२२९]

पुण्य की निषेधात्मक धारणा का खुलासा :

आज पुण्य के संदर्भ में हेयोपादेयता की गहरी बहस छिड़ी हुई है। केवली भगवंत का साक्षात् सुयोग संभव नहीं है तब कलिकाल की इस गहन तमिस्रा में आचार्य भगवंत श्री कुंद कुंद स्वामी से बढ़कर अन्य कोई भी ज्ञानी इस दिशा में उचित मार्गदर्शन या प्रकाश डालने में समर्थ नहीं है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में इस प्रश्न का समाधान करते हुए जो उद्गार प्रकट किये हैं आज के मुमुक्षुओं के लिए वे ही ज्ञान नेत्र का कार्य करते हैं।

समयसार प्रवचनसार आदि अपने सभी ग्रन्थों में आचार्य श्री कुंद कुंद स्वामी ने कहा है कि धर्म से परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोग से युक्त है तो मोक्ष सुख को

---

२२६. जे णिय दंसण अहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति।
तिं विणु पुण्णु करंता वि दुक्खु अणंतु सहंति॥ – परमात्म प्रकाश, अ.2, दोहा 59

२२७. वर णिय – दंसण अहिमुहउ मरण वि जीव लहेसि।
मा णिय दंसण विम्मुहउ पुण्णु विजीव करेसि॥ – **परमात्म प्रकाश**, अ.2, दोहा 58

२२८. मिथ्यात्व तिमिरोवगुंठित ज्ञानलोचनतया विनेय जनराशि रूत्पथ प्रस्थानोऽस कृत्कुगति गर्त पतितो निःसर्तुमभिलषन्नपि असमर्थः क्लिश्यति स च। – भगवती आराधना, टीका पृ. 186 गाथा 145 पंक्ति 2-3
मिथ्यादृष्टे र्गुणाः पापानुबंधि स्वल्पमिन्द्रिय सुखं दत्वा बह्वारंभ परिग्रहादिषु आसक्तं नरके पातयन्ति इति दोष वहाः। – **भगवती आराधना**, गाथा 57, टीका पृ. 101 पंक्ति 2

२२९. निदानबन्धोपार्जित पुण्येन भवान्तरे राज्यादि विभूती लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादि दुःखं लभते। रावणादिवत् तेन कारणेन् पुण्यानि हेयानीति।
– **परमात्म प्रकाश**, अ 2, दोहा 57, पृ. 179, पंक्ति 10-11

यदि शुभोपयोग सहित है तो स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है।[२३०] मोक्षार्थी को तो समस्त कर्म त्यागने की प्रेरणा की है जिसमें सभी इच्छाएं पुण्य पाप सभी विकल्पों का समावेश है।[२३१] कर्मों के प्रति सुशील कुशील की धारणा को भी उन्होंने नकारते हुए एक समान मान्य किया है अर्थात् पुण्य और पाप दोनों समान हैं।[२३२] दोनों से संसार परिभ्रमण दीर्घ होता है।[२३३] तत्वाभ्यासी निष्णात मुनिजन मुक्ति हेतु सर्व प्रधान प्रशस्त रागादि की धारणा को छोड़ते हैं।[२३४] रागी कर्मबंध और विरागी मुक्त होता है अतः विरागी को कर्म से प्रीति बढ़ाने का निषेध किया है।[२३५] लेकिन जब तक यह जीव भेद और उपचार रूप व्यवहार में प्रवर्तता है वर्तता है तब तक वह शुभ अशुभ की भावना से विमुक्त नहीं रह सकता तब तक वह उनका कर्ता कहलाता है, उससे ही वह संसारी होता है।[२३६]

निश्चय से दोनों (पुण्य पाप) संसार बढ़ाने वाले हैं अतः उनमें कोई विशेषता नहीं है, बंधने में लौह और स्वर्ण बेड़ी में कोई अंतर नहीं है तथैव शुभ अशुभ कर्म जीव को बांधते हैं।[२३७] फिर भी अज्ञान से ग्रस्त (शुद्धोपयोग से बाह्य)

---

२३०. देखो संदर्भ, २२३
अकइ यणियाण सम्मो पुण्णं काऊण णण चरणट्ठो।
उप्पज्जइ दिवलोए सुह परिणामो सुलेहो वि॥ – **भा.सं. ४०५**
पुण्णं पिजो समिच्छदि संसारो तेण ईहिदोहोदि।
पुण्णं सुगई हेदुं पुण्ण खएणेव णिव्वाणं॥ – **का. अ. गाथा ४१०**

२३१. संन्यस्तव्यमिदं समस्त मपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा। सम्यक्त्वादि निज स्वभाव भवनान्मोक्षस्य हेतु र्भवन्। नैष्कर्म्य प्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति॥ – **समयसार** गा. १६१-६३ आ.ख्याति टीका।

२३२. योऽसौ पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स निर्मोह शुद्धात्मनो विपरीतेन मोहेन मोहितः सन् संसारे परिभ्रमति इति। अत्राह प्रभाकरभट्टः। तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति। भगवानाह। यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्तवीतराग निर्विकल्परमसमाधि लब्ध्या तिष्ठिन्ति तदा संमतमेव। यदि पुनस्तथा विधामवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम्। – **प. प्र., टी. २/५५**

२३३. कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणइ सुसीलं। कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥ – **समयसार (कुंदकुंद) गाथा १४५**

२३४. विसय विरतो मुञ्चदि विषयासत्तोण मुञ्चदे जोई। – **रयणसागर**, गा. १२५
रतो बंधदि कम्मं मुंचदिजीवो विराग संपतो। – **समयसार** गा. १५०

२३५. आदा कम्म मलिमसो धारदि पाणे पुणो पुणो अण्णे ण जहदि जाव ममत्तं देहपधा णेसु विषएसु। – **प्र. सा. गा. १५०**

२३६. जं. भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥ – **समयसार**, गा. १०२

२३७. सौवण्णियं वि णियलं बंधदि कालायसं वि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥ – **समयसार**, गा. १४६

परमार्थ से बाह्य मोक्ष के हेतु को न जानते हुए उसे (पुण्य) संसारगमक हेतु होने पर भी पुण्य की वाञ्छा करते हैं।[२३८] किन्तु ज्ञानी की प्रवृत्ति इससे विपरीत है वह शुभ अशुभ इष्ट अनिष्ट में राग द्वेष नहीं करता[२३९] वह निश्चय से अपनी आत्मा का लक्ष्य रखता है उसे जानता है अज्ञानी पुण्य पाप को मोक्ष का हेतु मानकर (साक्षात्) आचरण करता है, चूंकि पुण्य से विभव, विभव से मद, मद से मतिभ्रम होता है इसलिए वीतरागी शुद्धोपयोगियों को पुण्य भी हेय बताया है।[२४०] वह कर्मक्षय का मुख्य कारण कभी नहीं बन सकता मोक्ष तो पुण्य क्षय से होता है।[२४१] मुमुक्षुओं का प्रयास भी इसी दिशा में होता है। ये सभी शुभाशुभ भाव बन्ध हेतुक होने से हेय हैं तथा समस्त उपाधि रहित सहजानंद लक्षण वाले सुखामृत स्वभावी निजात्म द्रव्य ही रमण करना चाहिए,[२४२] यही ज्ञानी जनों का उपादेय मार्ग है।

उपरोक्त कथन का सार यही ध्वनित होता है कि पुण्य की निषेधात्मक धारणा निर्विकल्पक ध्यान की ओर अग्रसर उत्तम भद्र परिणामी तपस्वी जनों के लिए है जो मोक्षमग की और तन्मयता से अग्रसर हैं तथा जिनकी अभी उत्तम भूमिका योग्य साधना की स्थिति नहीं हैं उनके लिए वह अभी भी आचरणीय है[२४३] हां,

---

२३८. परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्ण मिच्छंति। संसार गमण हेदु विमोक्खहेदुं अजाणंता॥
– **समयसार** गाथा १५४॥

२३९. सुभजोगेण सुभावं पर दव्वे कुणइ राग दो साहू। सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥ – **मोक्षपाहुड** ॥ ५४ ॥

२४०. पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ मोहो।
मइ मोहिण य पावं ता पुण्णं अम्हमा होउ॥ – **प. प्र.** २/६०
पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइ मोहो मइमोहेणय पावं तम्हा पुण्णो वि वज्जेज्जो। – **तिलोयपण्णत्ती**, अ.9 गा.52 पृ. 879

२४१. देखो संदर्भ २४७

२४२. अयं परिणामः सर्वोऽपि सोपाधित्वात् बन्धहेतुरिति ज्ञात्वा ... समस्त रागाद्युपाधिरहिते सहजानंदैक लक्षण सुखामृत स्वभावे निजात्म द्रव्ये भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम्।
– **प्र.सा.ता.वृ.** गाथा १८०

२४३. यः पुनः सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मा सं ज्ञानी जीवः स मुख्यवृत्या निश्चयरन्तत्रयलक्षण शुद्धोपयोगबलेननिश्चयचारित्राबिनाभाविवीतराग सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरुपपरिणामपरिणतिं करोति तदा तेन परिणामेन संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यभावरूपाणां कर्ता भवति। कदाचित्पुनः निर्विकल्पसमाधिपरिणामाभावे सति विषयकषायवंचनार्थं शुद्धात्मभावना साधनार्थंवा बहिर्मुद्धया ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षा निदानबन्धरहितः सन शुद्धात्मलक्षणार्हत्सिद्ध शुद्धात्माराधक प्रतिपादकसा धकाचार्योपाध्याय साधूनां गुणस्मरणादिरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाहुः। यथा कश्चिद्देवदत्तः स्वकीय देशान्तर-स्थितस्त्रीनिमित्तं तत्समीपागतपुरुषाणां सन्मानं करोति, वार्तां पृच्छति, तत्स्त्रीनिमित्तं तेषां स्वीकारं स्नेहदानादिकं च करोति। तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्तं शुद्धात्माराधकप्रतिपादकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणं दानादिकंचस्व स्वयं शुद्धात्माराधनारहितः सन् करोति।
– **स.सा. ता. वृ.** २/७४

उसको यह जानते हुए सतत बढ़ना है कि यह मोक्षमार्ग का प्रारंभ हेतु तो है किन्तु अंतिम सुदृढ़ हेतु नहीं है अतः योग्य अवस्था आते ही यह भी त्यजनीय है, आचार्य कुंद कुंद स्वामी का ऐसा ही तात्पर्य है।

शुद्धोपयोग :

शुद्धोपयोग की विस्तृत व्याख्या करते हुए आचार्यों ने इसमें विविध दृष्टिकोणों को समायोजित कर प्रकाश डाला है. कहीं ज्ञान की प्रमुखता है तो कहीं रत्नत्रय की. शुद्ध स्वभाव अवलम्बन रूप, समता भावरूप, अनंत चतुष्टयात्मक भावना रूप इत्यादि। यहां इसी भावना को ध्यान में रखकर परिभाषा को सुबोधगम्य शब्दों में प्रस्तुत किया जा रहा है :-

आचार्य कुंद कुंददेव प्रवचनसार में लिखते है कि जो पदार्थ और सूत्रों का ज्ञाता है, संयम तप से युक्त । राग रहित है तथा श्रमण है सुखदुख में समता ज्ञान है उसे शुद्धोपयोग होता है।[२४४] प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति में आचार्य भगवंत जयसेन ने कहा है कि जो ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान रूप केवल ज्ञान में समाहित अनंत गुणात्मक अपनी आत्मा का शुद्ध ध्यान (संकल्प विकल्प जाल रहित) है वह शुद्धोपयोग का लक्षण है।[२४५] निश्चय रत्नत्रय को भी शुद्धोपयोग कहा गया है।[२४६] जीवन-मरण में समता-संयम रूप राग रहित उपयोग[२४७] शुद्धभाव जहां चैतन्य भाव प्रतिभासित हो, शुद्धोपयोग है।[२४८] शुद्धोपयोग में शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव का धारक जो स्वात्मा है-वह ध्येय है, शुद्ध ध्येय शुद्ध अवलम्बन होने से, शुद्धात्म स्वरूप का साधक होने से, इसे शुद्धोपयोग कहा जाता है।[२४९] काल लब्धि वश

---

२४४. सुविदिद पयत्थ सुत्तो संजयतव संजुदो विगदरागो।
समणे समसुह दुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति। – प्र.सा.गा. 1।14

२४५. ज्ञानेन निर्वृत्त ज्ञानात्मकं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणात्मकं निजात्मानं शुद्धध्यान प्रतिपक्षभूत समस्त मनोरथ रूप चिन्ताजाल त्यागेन ध्यायामीति शुद्धोपयोग लक्षणं ज्ञातव्यम् – प्रवचनसार ता.वृ. गा. 159 टीका पृ. 405

२४६. निश्चयरत्नात्रयात्मक शुद्धो पयोगेन परिणतः शुद्धो ज्ञातव्य इति।
– प्रवचनसार, ता.वृ. गाथा ९

२४७. जीवित मरणादि समताभाव लक्षण परमोपेक्षा संयम रूप शुद्धोपयोगेन।
– प्र.सा.ता.वृ. 1।17

२४८. नाकृति र्नाक्षरं वर्णो नो विकल्पश्च कश्चन।
शुद्धं चैतन्यमेवैकं यत्र तत्साम्यमुच्यते॥ – पद्मानंदी पंच विंशतिका ६५।४

२४९. शुद्धोपयोगे शुद्ध बुद्धैक स्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्ध ध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्म स्वरूप साधक त्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते।
– वृहद् द्रव्य संग्रह, टीका पृ. ७७, गाथा ३४, पंक्ति ८

भव्यत्व शक्ति का प्रकटीकरण पारिणामिक भाव है और इसी समय परमात्म द्रव्य के प्रति सच्चा श्रद्धान ज्ञान आचरण पर्याय से परिणत आत्मा शुद्धोपयोगी संज्ञा को प्राप्त होती है . आगम में इस स्थिति को उपशम, क्षय, क्षयोपशम तीन प्रकार से बताया गया है. इसी को अध्यात्म भाषा में शुद्धात्माभिमुख रूप परिणाम को शुद्धोपयोग कहा है।[२५०] ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय स्वरूप परमात्म द्रव्य की भावना भी शुद्धोपयोग है।[२५१] इसी अनुभूति से जीव मोक्ष प्राप्त करता है।[२५२] सप्तम गुण स्थान बनने से पूर्व उपान्त्य गुणस्थान अभिमुख रूप से कहे जाते हैं। इससे 1, 4, 5, 6 गुणस्थान अभिमुख गुणस्थान है। इनमें शुद्धोपयोग किंचित् भी नहीं हैं किन्तु सप्तम गुणस्थान की प्राप्ति में उक्त गुणस्थानों का पूर्ववर्ती परिणाम शुद्धोपयोग के अभिमुख था किन्तु शुद्धोपयोग नहीं - फिर भी कारण में कार्य का उपचार करने से उसे शुद्धोपयोग कहा जा सकता है।[२५३] उपचरित कथन रूप से. यदि कथन को वास्तविक मान्य किया जाय जो अभिमुख शब्द निरर्थक ठहरेगा. जो कि जिनागम की भावना के प्रतिकूल है। सर्वज्ञ अन्यथा कथन भी नहीं करते।[२५४] पूर्व कथित निश्चय में व्यवहार की भूमिका - अनिवार्यता को यहां भी (निश्चय रत्नत्रय में व्यवहार रत्नत्रय) घटित किया जा सकता है.साधन के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं है. अंततोगत्वा इसी मत की सम्पुष्टि होगी कि निश्चय रत्नत्रय से पूर्व वह व्यवहार रत्नत्रय से युक्त था और वह व्यवहार रत्नत्रय मात्र मुनिराजों को ही होता है, गृहस्थों को नहीं, देशव्रती के जो रत्नत्रय है वह एक देश है क्योंकि उन्हें देश चारित्र है, सकल चारित्र नहीं .आचार्यों ने देश संयम को पांच संयमों में समाहित नहीं माना है। तत्वार्थ सूत्र में भी संयम परिगणना में इसका समावेश नहीं है.इसका स्पष्ट कारण है कि वह एक देश चारित्र है.अतः व्यवहार रत्नत्रय से संपन्न मुनिराज व्यवहार रत्नत्रय रूप साधन के द्वारा निश्चय

२५०. तत्र च यदा कालादिलब्धि वशेन भव्यत्व शक्तेर्व्यक्तिर्भवतितदायं जीवः सहजशुद्ध पारिणामिक भावलक्षण निज परमात्म द्रव्य सम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुचरण पर्याय रूपेण परिणमति तद्य परिणमनमागम भाषयौपशमिक क्षायोपशमिक भाव त्रयं भण्यते। अध्यात्म भाषया पुनः शुद्धात्माभिमुख परिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय संज्ञांलभते।
– समयसार, ता.वृ. ९।३२०

२५१. ज्ञानाद्यनन्त चतुष्टयस्वरूप परमात्म द्रव्य भावना लक्षण शुद्धोपयोग बलेन प्रक्षीणघाति कर्मा सन्।
– प्रवचनसार, ता.वृ. गाथा १९

२५२. शुद्धात्मानुभूति संज्ञभावेतु शुद्धोपयोगेन परिणम्य मोक्षं च करोति।
– परमात्म प्रकाश, दोहा 68, अ.1, टीका पृ. 68

२५३. कारणं गुणानुविधानं हि कार्ये दृष्टं। – रा.वा. (अ.सू.1/20) टीका क्र.3

२५४. नान्यथावादिनो जिनाः।
– आ.प.श्लो. 5

रत्नत्रय रूप से परिणमन करते हैं तब उनकी दो अवस्थाएं होती है। 1. स्वस्थान प्रमत्त (श्रेणी के अनभिमुख) 2. सातिशय अप्रमत्त (श्रेणी के अभिमुख)[२५५]

अब यदि हम अभिमुख शब्द को प्राप्ति अर्थ में ग्रहण करें तो शुद्धात्माभिमुख परिणाम ही शुद्धोपयोग है और यह अवस्था अप्रमत्तादि मुनिराजों को ही प्राप्त होती है, अन्य किसी को नहीं, और न गृहस्थों को।

अभिमुख शब्द का खुलासा :

आचार्य श्री जनसेनाचार्य जी ने समयसार तात्पर्य वृत्ति में निज शुद्धात्म द्रव्य के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप पर्याय से परिणत जीवात्मा के इस परिणमन को आगम भाषा में औपशमिक क्षायिक, क्षायोपशमिक त्रिविध रूप कहा है तथा अध्यात्म भाषा में शुद्धात्मा के अभिमुख होने वाला परिणाम शुद्धोपयोग है। आचार्य ने अभिमुख और परिणाम को एक कहकर शुद्धोपयोग की संज्ञा दी है,[२५६] अब यहां मुख्य रूप से यह विचारणीय है कि जो निश्चय रत्नत्रय रूप पर्याय से परिणमित है वह पूर्व में क्या व्यवहार रत्नत्रय से परिणमित हो चुका था ? क्योंकि व्यवहार के बिना निश्चय नहीं होता (हेतु नियत का होई-दौलत राम) यह एक सामान्य नियम हैं। व्यवहार साधन है कारण है, हेतु है, निमित्त है[२५७] और निश्चय साध्य है, कार्य है, जन्य है, उपादान है, कार्य सर्वत्र कारण पूर्वक होता है।[२५८] यद्यपि निमित्त कारण-कारण ही रहता है, कार्य नहीं और कार्य-कार्य रहता है कारण नहीं- फिर भी, कहीं-कहीं कारण में कार्य का उपचार किया जाता है।[२५९] यथा :- शुद्धोपयोग का प्रारंभ सप्तम अप्रमत गुणस्थान से होता है परंतु इस गुणस्थान की प्राप्ति 1,4,5,6 गुणस्थान से संभव है। मिथ्या दृष्टि मुनि जिनने (द्रव्यलिंगी) मिथ्यात्व गलन के पूर्व दीक्षा ली। वे जब दर्शन

---

२५५. स्वस्थानाप्रमत्तः सतिशय प्रमत्तश्चेति द्वौभेदौ - **गो.जी./जी.प्र./४५/९७/८**
२५६. देखो, संदर्भ १८९
२५७. निश्चय रत्नत्रय स्वरूपं तत्साधकं व्यवहार रत्नत्रय रूपं चेति - **वृ.द्र.सं.अ. 2, चू.पृ.66**
२५८. साधन करणं - **स.सि. 1।21**
साधनं करणं - **रा.व.1।17**
निश्चयरत्नत्रयं भावनाबलेन तत्साधक व्यवहार रत्नत्रय भावनाबलेन सत्यत्थ कारणाणुसारिकज्जुवलंभादो **ध.पु.10।4,2** । ण च कारणेण विणा कज्ज मुप्पज्जदि अइप्पसंगादो। - **ध.पु. 12।4,2,13,17**
कारणे कज्जुवयारादो। - **ध.पु. 3।4,2,6,233**
२५९. देखो, संदर्भ १०, ११

मोहनीय (३ प्रकृतियां) चारित्र मोहनीय (१२ प्रकृतियां) प्रकृतियों का अन्य प्रकृतियों के साथ यथायोग्य उपशम या क्षायोपशमिक विधि करते हैं तब उनके प्रथम गुण स्थान से सीधा सप्तम गुणस्थान बनता है।

इसी प्रकार चतुर्थ पंचम गुणस्थानवर्ती दीक्षा काल में चारित्र मोहनीय की 4 या 8 प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम करता है तब सप्तम गुणस्थान होता है. छट्ठे से सप्तम गुणस्थान निरंतर बनता ही रहता है क्योंकि संज्वलन का काल अन्तर्मुहूर्त है जिससे वे मुनिजन झूला की तरह निरंतर छठे से सप्तम और सप्तम से छठे गुणस्थान में झूलते रहते हैं. काल सीमा इतनी ही है।

गुणस्थानों में उपयोग :

संयम मार्ग पर अग्रसर होकर भव्य प्राणी कर्मबन्धन से मुक्त होने का प्रयास करता है और उसके इस प्रयास का परिणाम किस स्तर पर है इसका माप गुण स्थान के माध्यम से ज्ञात होता है। इस दृष्टि से प्रारंभ के तीन गुणस्थान (मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र) अशुभोपयोग की प्रधान भूमिका वाले होने से कल्याण मार्ग पर अग्रसर करने में प्रभावी नहीं है. हालाकि इनमें क्रमशः घटता हुआ अशुभोपयोग होता है तथा अग्रिम तीन गुण स्थानों में (4-5-6) वृद्धिंगत शुभोपयोग होता है। शुद्धोपयोग की वास्तविक स्थिति अप्रमत्त संयत गुण स्थान से लेकर क्षीण मोह गुणस्थान (7-12) तक वृद्धिंगत होती जाती है। इन गुण स्थानों में क्रमशः जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के भेद से युक्त एक देश शुद्ध नय स्वरूप शुद्धोपयोग होता है।[२६०] यहां इसी चर्चा को कुछ विस्तार के साथ पाठकों को सुबोध गम्य बनाने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया जा रहा है :

1. प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व में शुभाशुभ उपयोग :

प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व का तीव्र उदय रहता है जिससे दृष्टि और चर्या में परमार्थ की शून्यता रहती है अर्थात् अशुभोपयोग की प्रधानता होती है फिर

२६०. मिथ्यात्व सासादन मिश्र गुणस्थान त्रये तारतम्येना शुभोपयोगः तदनन्तरमसंयत सम्यग्दृष्टि देशविरत प्रमत संयत गुण स्थान त्रये तारतम्येन शुभोपयोगः तदनन्तर म प्रमतादि क्षीणकषायान्त गुण स्थान षट् के तारतम्येन शुद्धोपयोग : .....।

– प्रवचनसार, ता.वृ. गाथा ९

भी उसके किंचित् शुभोपयोग की संभावना है, जैसा कि आचार्य श्री जयसेनाचार्य जी (समयसार तात्पर्य वृत्ति 74) लिखते हैं :-

जीव को कथंचित् परिणामी स्वीकार करने पर अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव विषय कषाय रूप अशुभोपयोग जन्य परिणामों को करता है।[२६१] कदाचित् पुनः एक स्वभाव वाले शुद्धात्मा को छोड़कर भोगाकांक्षादि निदान रूप शुभोपयोग परिणामों को करता है. यह बात स्पष्ट है कि मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग मोक्ष का कारण नहीं, मात्र पुण्य बन्ध का कारण है जबकि सम्यग्दृष्टि का वही उपयोग पुण्य के साथ-साथ परंपरा से मोक्ष का भी कारण है यथा :- शुभ रूप राग भाव अर्थात् शुभोपयोग पुरूष के भेद कर विपरीत कार्य को फलता है. उदाहरणार्थ - कृषि काल में खोटी भूमि में बोये गये नाना प्रकार के धान्य बीज विपरीत परिणाम देते हैं (उत्कृष्ट मध्यम जघन्य भूमि के अनुसार) तथैव शुभोपयोग पात्रभूत वस्तु विशेष का आश्रय से भिन्न-भिन्न फल देता है।[२६२] यदि कोई यहां आशंका करे कि इससे क्या सिद्ध हुआ तो आचार्य समाधान करते हुए कहते हैं पूर्व सूत्र में कथित न्याय से जब सम्यक् पूर्वक शुभोपयोग होता है तो पुण्यबंध तथा परंपरा से निर्वाण लाभ होता है मात्र पुण्यबंध नही, मिथ्यादृष्टि को मात्र पुण्यबंध होगा. उसके आर्त्तरौद्रादि ध्यान की सर्वाधिकता है। इसीलिए आचार्य श्री जयसेन आदि प्रमुख ज्ञानियों ने गुणस्थान 1-3 तक घटता हुआ अशुभोपयोग मान्य किया है.

प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में एक मात्र अशुभोपयोग पाया जाता है. यहां सर्वघाती स्वरूप मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी चतुष्क का तीव्र उदय रहता है जिससे निर्वाण हेतुक शुभोपयोग की संभावना किंचित् भी नहीं है. फिर भी उक्त प्रकृतियों की मंदोदय अवस्था में मिथ्यादृष्टि जीव के भोगाकांक्षारूप निदान विषयक क्रियाएं देखी जाती है। अतः उसकी दान पूजा आदि पुण्य क्रियाओं देख उसे भी विवक्षावश शुभोपयोग कहा है, पर वह निर्वाण मूलक नहीं है।

२६१. तत्रैव कथंचित् परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीवो विषयकषायरूपा शुभोपयोग परिणामंकरोति कदाचित् पुनश्चिदानंदैक स्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकांक्षानिदान स्वरूपं शुभोपयोग परिणामं करोति

– समयसार ता.वृ. गा. 79 (कर्त्ता कर्म अधिकार) टीका पृ. 65

२६२. प्र.सा./मू.अ. ३/गा. ५५

द्वितीय सासादन गुणस्थान में प्रथम की अपेक्षा कुछ न्यून अशुभोपयोग रूप प्रवृत्ति है. मिथ्यात्व का साक्षात् उदयाभाव होने से.किन्तु मिथ्यात्वोन्मुखता (अन्तर्मुहूर्त पश्चात्) की स्थिति अवश्य है। इसी आशय की अभिव्यक्ति आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी ने अपने ग्रन्थों में की है. प्रवचनसार (गाथा 3/55) में स्पष्ट रूप से इस गुणस्थान में मुक्ति हेतुक शुभोपयोग का निषेध किया गया है.अलबत्ता प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा यहां कुछ उज्जवल परिणाम है।

तृतीय मिश्र गुणस्थान में मिश्रित परिणाम (मिथ्यात्व-सम्यक्त्व) होने[२६३] से सम्यग् मिथ्यात्व = दर्शनमोहनीय की प्रकृति का उदय है। मिथ्यात्व का - अनंतानुबंधी चतुष्क में से किसी का भी साक्षात् उदय नहीं है.फिर भी,क्रमिक ह्रास पूर्वक अशुभोपयोग निरंतर बना रहता है। यहां भी परंपरा से निर्वाण हेतुक किंचित् शुभोपयोग नहीं है। उपरोक्त कथ्य का निष्कर्ष यह कि इस स्थिति में प्राप्त अशुभोपयोग क्रमशः उत्कृष्ट मध्यम जघन्य रूप से हो सकता है.

असंयत से प्रमत्त संयत गुणस्थान में निर्वाण हेतुक शुभोपयोग :-

गुणस्थान 4-6 (असंयत सम्यग्दृष्टि,देशसंयत तथा प्रमत्त संयत) में तारतम्य से क्रमशः वृद्धिंगत शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग पाया जाता है[२६४] जिसे हम इन गुणस्थानों में क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद के रूप में स्थापित कर व्याख्या कर सकते हैं, मोक्ष का कारणभूत सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होता है। यहां ज्ञान, वैराग्यशक्ति[२६५], विशुद्धि आदि निरंतर बनी रहती है तथा 41 कर्म प्रकृतियों का संवर भी रहता है[२६६] अतः शुभोपयोग भी निरंतर रहता है.योगो में शुभाशुभता भी बनी रहती है जिससे लेश्या, ध्यान, प्रवृत्ति में अंतर रहता है और आस्रव-बंध-संवर की प्रक्रिया भी प्रभावित होती रहती है, फिर भी परिणति रूप दृष्टि (ज्ञान वैराग्य रूप शक्ति) आत्महित मोक्ष की ओर रहती है। चारित्र मोहोदय वश चारित्र का धारण लेश मात्र नहीं है परंतु सदाचरण रूप प्रवृत्ति है, अतः जघन्य रूप से शुभोपयोग ही है। सराग सम्यग्दर्शन के साथ इसकी अन्यथानुपत्ति है,[२६७] हां. वीतराग सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि विषय कषाय

२६३. गो. जी./गा. २२
२६४. देखो संदर्भ २५६.
२६५. स.सा.कं.
२६६. स.सा./ता.वृ. २०१-२०२
२६७. स.सा./ता.वृ. १८४, १८५

वश होने वाले आर्त्तरौद्रादि ध्यान गृहस्थों को होते हैं. अतः आत्मा के आश्रय से होने वाला निश्चय धर्म ध्यान नहीं होता है।[२६८]

पंचम संयमासंयम गुणस्थान में देशसंयम और असंयम की युगपत् प्रवृत्ति है। यहां संकल्पपूर्वक (एकदेश) स्थूल रूप से पापाचरण से विरक्ति है, सूक्ष्मरूप से नहीं. अतः इस गुणस्थान का यह सार्थक नाम है। यहां चतुर्थगुणस्थान की अपेक्षा शुभोपयोग वृद्धि रूप है जो इसकी मध्यम स्थिति का ज्ञापक है तथा सम्यक्त्व की दृष्टि से सराग सम्यक्त्व है। शुद्धोपयोगात्मक वीतरागी सम्यक्त्व किंचित् भी नहीं है। हां, इतना अवश्य है कि कभी-कभी श्रावकों को सामायिक आदि के समय शुद्धोपयोग की शुद्ध भावना पायी जाती है, पर वह शुभोपयोग रूप है, शुद्धोपयोग रूप नहीं। पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में कहा भी है- यद्यपि अनुमान रूप परोक्ष ज्ञान के द्वारा जैसे धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान किया जाता है तथैव शुद्धात्मा जानी जाती है. फिर भी रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा उत्पन्न परमानंद रूप अनाकुलतात्मक वास्तविक सुखामृत से परिपूर्ण कलश के समान सभी प्रदेशों में आनंद से भरे हुए परमयोगियों को जैसे शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है वैसा प्रत्यक्ष इतरजनों (गृहस्थों को) को नहीं होता।[२६९]

शुद्धोपयोग श्रावकों को नहीं :-

श्रावक शब्द में तीन अक्षर हैं श्र, व और क। ये तीनों अक्षर सांकेतिक हैं पूर्ण इस प्रकार है - यथाः श्र = श्रद्धावान्, व = विवेकवान्, क = क्रियावान्, इसका सीधा अर्थ है जो श्रद्धावान्, विवेकवान् तथा क्रियावान् होता है वही श्रावक है। यह संज्ञा गुणस्थान 4-5 में स्थित भव्यात्माओं को प्राप्त है। समवशरण मंडप में व्रती अव्रती दोनों उपदेश श्रवण करते हैं। इस दृष्टि से अव्रती को भी श्रावक संज्ञा प्राप्त होती है तथा उन्हें शुभोपयोग की पात्रता है (शुद्धोपयोग की नहीं) तथा शुभोपयोग के रहते योग शुभ-अशुभ दोनों संभव है। प्रशस्त अप्रशस्त, ध्यान,

२६८. प्र.सा./ता.वृ. ३/५४

२६९. यद्यप्यनु मानेन लक्षणेन परोक्ष ज्ञानेन व्यवहारनयेन धूमाग्निवद शुद्धात्मा ज्ञायते तथापि रागादि विकल्परहित स्वसंवेदन ज्ञान समुत्पन्न परमानंद रूपाना कुलत्व सुस्थितवास्तव सुखामृतजलेन पूर्णकलशवत् सर्व प्रदेशेषु भरितावस्थानां परम योगिनां यथा शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति तथेतराणां न भवती त्यलिंग ग्रहणः।

- पंचास्तिकाय.. गा. १२७, ता. वृ. पृ. १९०

र.सा. ५२

लेश्यायें क्रियाएं होती रहती है। जब प्रशस्त भाव होते हैं तब सभी क्रियाएं ध्यान योग आदि परंपरा से मुक्ति के कारणभूत पुण्यास्रव का बंध कराती है.इन सब प्रवृत्तियों से वह भव्य अशुभोपयोग से स्वयं को बचा लेता है क्योंकि उस भूमिका में कृष्णादि अशुभलेश्याएं आर्त्तरौद्रादि ध्यान होने से पापास्रव के कारण भूत तथा अधोगामी दीर्घ संसार परिभ्रमण का मार्ग सुलभ होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुभोपयोग के होते हुए भी योग शुभ (पुण्य) अशुभ (पाप) दोनों संभव है, इस गुण स्थान में शुभोपयोग दृष्टि की प्रधानता है। जैसा गोम्मटसार में सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचंद जी ने कहा है कि ये सभी १-४ गुणस्थान दर्शन प्रधान है। यहां चारित्र नहीं है। क्योंकि अविरतों से युक्त ये गुणस्थान[२७०] विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावात्मक परमात्म पदार्थ की भावना के प्रतिपक्षभूत जो कषाय और इन्द्रियां हैं उनसे गृहस्थों का मन सदा व्याकुल रहता है। अतः मानसिक विशुद्धि के अभाव में वे तपस्वियों के समान शुद्धात्म भावना में समर्थ नहीं होते[२७१] क्योंकि तीर्थङ्कर भी (गर्भ, जन्म,दीक्षा) तीन कल्याणक के पश्चात् ही अभेद रत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग में लीन होकर अर्हत् सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं।[२७२] इस मर्म को खुलासा करते हुए प्रवचन सार तात्पर्य वृत्ति में आचार्य श्री जयसेन कहते हैं कि जो पहले गृहस्थावस्था में नाना तरह के गृह व्यापार करते थे, पश्चात् दीक्षा ग्रहण की, वे रामादि केवली पुरुष निश्चय रत्नत्रयात्मक परमात्म ध्यान के द्वारा अनंत सुख रूपी अमृत से तृप्त हुए थे,[२७३] दूसरे नहीं। श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने भी राम,पांडव,भरत,सागर आदि का उदाहरण देकर लिखा

२७०. गो. सा./जी./१२

२७१. विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्म पदार्थ भावना प्रतिपक्ष भूतैः कषायेन्द्रियैः व्याकुलीक्रियते मनः, मनः शुद्धय भावे गृहस्थानां तपोधनवत् शुद्धात्म भावना कुर्तुं नायातीति। तथा चोक्तम् - कषायै रिन्द्रियैर्दुष्टैर्व्या कुली क्रियते मनः। यतः कर्तुं न शक्येत भावना गृहमेधिभिः। 4

- परमात्म प्रकाश, अ.2, दोहा.144, टीका पृ.260, पंक्ति 12-15

२७२. राजाधिराजर्द्धमाण्डलिक महामाण्डलिक बलदेव वासुदेवमाम देव सकल चक्रवर्ति देवेन्द्र गणधर देव तीर्थंकर परम देव प्रथम कल्याण त्रय पर्यन्त विविधाभ्युदय सुखं प्राप्य पश्चादभेद रत्नत्रय भावना बलेनाक्षयानन्त सुखादि गुणास्पदमर्हत्पदं सिद्धपदं च लभते इति।

- वृ.द्र.सं. २।३५

२७३. य एव पूर्व गृहस्थावस्थायामेवं गृहव्यापारं कृतवान् पश्चाज्जिन दीक्षां गृहीत्वा स एवै दानीं रामादि केवली पुरूषो निश्चय रत्नत्रयात्मक परमात्मध्यानेनानन्त सुखामृत तृप्तो जातः, न चान्य इति।

- प्र.सा.ता.वृ. २।१९

है कि इन महान पुरुषों ने पहले जिन दीक्षा लेकर फिर द्वादशांग को पढ़कर तथा उसके फल से वे निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध परमात्मा के ध्यान में लीन हुए थे।[२७४] इससे स्पष्ट है कि विषय कषायाश्रित गृहस्थों को आत्माश्रित निश्चय धर्मध्यान के लिए अवकाश नहीं।[२७५] उनका उपयोग सदैव सविकल्पक[२७६] है मोह क्षोभ से रहित निर्मोह और निःक्षोभ गुणों से विशिष्ट आत्मा शुद्ध, बुद्ध एक स्वरूप चिच्चमत्कार लक्षण रूप चिदानंद परिणाम वाला कहा जाता है और वह परिणाम पंच सूनाकर्म में लिप्त गृहस्थों को संभव नहीं है।[२७७] विषय कषाय जन्य आर्त्तरौद्रध्यानादि के वशीभूत गृहस्थों को आत्माश्रित निश्चय धर्म ध्यान नहीं होता है[२७८] और न निश्चय रत्नत्रय लक्षण शुद्धोपयोग रूप परमधर्म की प्राप्ति का अवसर है।[२७९] जैसे आकाश कुसुम, खर विषाण का होना संभव नहीं है, फिर भी, उनकी यदि किसी देश काल में सिद्धि संभव भले हो जाय परंतु गृहस्थ को

---

२७४. निर्विकारचिच्चमत्कार भावना प्रतिपक्षभूतेन विषयः कषाय निमित्तो त्पन्नेनार्त्त रौद्र ध्यान द्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रित निश्चय धर्मस्यावकाशो नास्ति
– प्र.सा.ता.वृ. ३।५४

२७५. वीतराग सम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतराग चारित्राविनाभूतं तदैव निश्चयसम्यक्त्वमिति। अत्राह प्रभाकर भट्टः। निज शुद्धात्मैवोपादेय इति रूचिरूपं निश्चय सम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्व भवद्भिः इदानीं पुनः वीतराग चारित्राविनाभूतं निश्चय सम्यक्त्वं व्याख्यातामिति पूर्वापरविरोधः कस्मादिति चेत्। निज शुद्धात्मैवोपादेयः इति रूचिरूपं निश्चय सम्यक्त्वं गृहस्थावस्था यां तीर्थंकर परमदेव भरतसगर रामपण्डवादीनां विद्यते, न च तेषां वीतराग चारित्रमस्तीति परस्परविरोधः अस्ति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्व कथमिति पूर्वपक्षः। तत्र परिहारमाह। तेषां शुद्धात्मोपादेय भावनारूपं निश्चय सम्यक्त्वं विद्यते परं किन्तु चारित्र मोहोदयेन स्थिरता नास्ति व्रतप्रतिज्ञाभंगो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यन्ते। शुद्धात्मभावना च्युताः सन्तः भरतादया निर्दोषिपरमात्मनामर्हत्सिद्धानां गुणस्तववस्तुस्तव रूप स्तवनादिकं कुर्वन्ति तद्चरितपुराणादिकं च समाकर्णयन्ति तदाराधकपुरूषाणामाचार्योपाध्यायसाधूनां विषयकषायदुर्ध्यानवंचनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं च दानपूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभरागयोगात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्व संज्ञा वीतराग चारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परंपरया साधकत्वादिति। वस्तुवृत्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थ :।
– प.प्र.टी.वृ. २।१७

देखो संदर्भ २६३.

२७६. साकारसाविकल्पो गृहस्थः। – प्र.सा.ता.वृ. २।१०२

२७७. कंडली पीसणी उदकुंभं पमज्जणी – मू.आ. ९२८

२७८. विषय कषाय निमित्तोत्पन्नेनार्त्त रौद्र ध्यान द्वयेन परिणतानां गृहस्थानामा त्माश्रित निश्चय धर्मास्यावकाशो नास्ति। – प्र.सा.ता.वृ. ३।५४

२७९. देखो संदर्भ २४७

निश्चय धर्मध्यान की सिद्धि संभव नहीं है।[२८०] जो गृहस्थ ऐसा मानने से इंकार करता है वह आकाश कुसुम से वन्ध्यापुत्र के लिए मुकुट बनाने का निरर्थक प्रयास करता है।[२८१]

उपरोक्त कथन के संदर्भ में यह सुनिश्चित है कि जब तक ग्रन्थ (परिग्रह) का त्याग नहीं किया जाता तब तक (आत्मा) चित्त की मलीनता को दूर नहीं किया जा सकता।

इसलिए बाह्य आभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग करने वाले क्षपकों का चित्त निर्मल होता है।[२८२] वे ही कर्मों की निर्जरा - क्षपणा में समर्थ है। रागी द्वेषी गृहस्थ नहीं, जब तक उपशम भाव नहीं, तब तक आत्म ध्यान में स्थिरता शक्य नहीं है।[२८३] वैराग्य, तत्त्वज्ञान, निर्ग्रन्थता, मन का नियंत्रण और परीषह जय इन पांच कारणों को आगम ग्रन्थों में उत्तम ध्यान के लिए मुख्य बताया है[२८४] जो कि गृहस्थों के पूर्णतः कभी संभव नहीं है।

निरालंब ध्यान के निषेधात्मक कारणों का खुलासा :-

आगमिक अभिप्राय से अपरिचित कतिपय गृहस्थ इस भ्रम में हैं कि उनके निरालम्ब और शुद्ध ध्यान संभव है।[२८५] दृष्टिवाद अंग में ध्यान के गुणस्थान कहे हैं उसमें देश व्रती को मुख्य (निश्चय) धर्मध्यान का निषेध है।[२८६] क्योंकि वे

---

२८०. ख पुष्प मथवा श्रृंग खरस्यापि प्रतीयते। न पुनर्देश कालेऽपि ध्यान सिद्धि गृहाश्रमे।
- ज्ञाना. ४।१७

२८१. रत्नत्रय मनासाद्य यः साक्षाद्धयातु मिच्छति। ख पुष्पैः कुरुते मूढ सबन्ध्यासुत शेखरम्।
- ज्ञनार्णव ६।४

२८२. जाव ण गंथं छंडल ताव ण चित्तस्य मलिणिमा मुवइ।
दुविह परिग्गहचाए णिम्मसचित्तो हवई खवओ।
- आ.सा. ३२

२८३. संगचाएण फुडजीवो परिणमई उव समो परमो।
उवसमगओ हु जीवो अप्पसरूवे थिरो हवई॥
- आ.सा. ३१

२८४. वैराग्यं तत्व विज्ञान नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परीषह जयश्चेति पञ्चैतेध्यान हेतवः॥
- क्षत्रचूड़ामणि (प.प्र. २।१९२)

२८५. जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहथाण णिचलं झाणं।
सुद्धं च णिरा लंबं ण मुणइ सो आयमो जइणो।
- आ.सं. ३८२

२८६. कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि।
तम्हा स देस विरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई॥
- आ.सं.३८३

२८७. किं जं सो गिहवंतो वहिरंतरगंथ परमिओ णिचं।
बहुआरंभ पउत्तो कह झायइ सुद्ध मप्पाणं।
- आ.सं. ३८४

सदैव बाह्याभ्यंतर परिग्रह से लिप्त हैं तथा आरंभ भी अनेक विध है,[२८७] तब वह शुद्धात्मा का ध्यान कैसे कर सकता है? ध्यानस्थ मुद्रा में यदि वह बैठ जाय तो उसे वे सभी आरंभ व्यापार उस स्थिति में भी झलकते रहते हैं।[२८८] अब भी यदि कोई गृहस्थ शुद्ध ध्यान की बात करे तो उसका कथन मेंढ़की के टर्राने जैसा है अथवा ढेकी (मूसली के धान्य कूटने का) के परिश्रम जैसा निरर्थक है. तथैव निरावलंबी ध्यान की चेष्टा परिश्रम मात्र है।[२८९] उससे लाभ किंचित् भी नहीं हो सकता. उसे सविकल्प रूप अनेक ध्यानों की संतान प्राप्त होती है और वही उसके पायी जाती है।[२९०] अतः आलम्बन सहित पंच परमेष्ठी का ध्यान करना उसके लिए इष्ट है। यही उसकी उचित मर्यादा है।[२९१] धूमाग्निवत् परोक्ष ज्ञान से यद्यपि आत्मा (शुद्धात्मा) जानी जाती है.गुरू, उपदेश, शास्त्रादि के पठन-पाठन से भी उसका ज्ञान होता है फिर भी रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा उत्पन्न परमानंद रूप अनाकुलात्मक वास्तविक सुखामृत से परिपूर्ण, कलश के समान सभी प्रदेशों में आनंद से भरे हुए योगियों को जैसा प्रत्यक्ष शुद्धात्मा का होता है वैसा इतरजनों को नहीं होता।[२९२]

जो भव्य जिन मुद्रा धारण कर अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होता है उसे ही यह निरावलंब शुद्धोपयोग रूप ध्यान होता है[२९३] (भावसंग्रह 381) आराधना सार में इसी की सम्पुष्टि करते हुए क्षेत्रादि बाह्य,मिथ्यात्वादि अंतरंग परिग्रह का त्याग कर निरालंब ध्यान का निर्देश किया गया है[२९४] (आ.सा. 32) जो सातवें गुण स्थान में संभव है.देश विरत और प्रमत्तविरत को यह मात्र उपचार से है[२९५] अतः

२८८. घर बाबारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।
झाणट्ठियस्य पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स॥ - भा.सं. ३८५
२८९. अह ढिंकुलियां झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि विमलम्मि॥ - भा.सं. ३८६
२९०. झाणाणं संताणं अहवा जाएइ तस्स झाणस्स।
आलंवण रहियस्सयण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा॥ - भा.सं. ३८७
२९१. तम्हा सा सालंवं झायणु झाणं पि गिहवई णिच्चं। पंच परमेट्ठिरूपं अहवा मंतक्खरं तेसि। - भा.सं. ३८८
२९२. पं. का. / ता. वृ. १२७
२९३. भा. सं. ३८१
२९४. आ.सा. ३२
२९५. मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमाय विरहिए ठाणे।
देसविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं। - - भा.सं. ३७१

आगम सम्मत मार्ग ज्ञानी जनों के लिए ग्राह्य है और वह जिनलिंगधारी अप्रमत गुणस्थानवर्ती मुनिजन ही निरावलंब शुद्धोपयोग रूप ध्यान के पात्र हैं, अन्य इतर गृहस्थ जन नहीं, और न प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिजन ही इसके पात्र हैं।[२९६]

प्रमत्तविरत गुणस्थान :-

सकल संयम की साक्षात् स्थिति को दिग्दर्शन कराने वाला प्रमत्तविरत छठा गुणस्थान है तथा यह जिन मुद्रा धारी मुनिजनों को ही होता है,[२९७] अव्रती या गृहस्थों को नहीं होता. जिन संयमियों ने तीन दर्शन की तथा मोहनीय बारह चारित्र मोहनीय की कुल पंद्रह कर्म प्रकृतियों का क्षयोपशमादि कर समस्त बाह्याभ्यंतर परिग्रह का त्याग कर अड्ढाईस मूल गुणों को धारण किया है उन्हीं के यह छठा प्रमत्त विरत गुण स्थान होता है। इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन सहित सकल संयम रहता है तथा बुद्धिपूर्वक धर्म विषयक राग रहने से इसे सराग संयम सराग सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं क्योंकि सराग के साथ (सम्यक्त्व) इसकी अन्यथानुपत्ति है।[२९८] यहां तक सराग ही सम्यक्त्व के साथ इसकी उत्पत्ति है, वीतराग सम्यक्त्व के साथ नहीं। इस गुणस्थान में शुभोपयोग की प्रधानता है, अशुभोपयोग या शुद्धोपयोग नहीं पाया जाता है।

यहां विशेष रूप से एक बात दृष्टव्य है कि इस गुणस्थान में तीन आर्त्तध्यान इष्टानिष्ट वियोग संयोग पीड़ाचिंतन की भावना का अभाव नहीं है,[२९९] यथासमय इनकी जाग्रति है फिर भी, इसे अशुभोपयोग की सीमा में नहीं लिया जा सकता। ऐसा इसलिए भी कि यहां अशुभ और शुद्ध दोनों उपयोगों का अभाव आगम में वर्णित है।

कतिपय विद्वानों की धारणा है कि मुनिराज जिस समय अपनी समस्त क्रियाएं पूर्ण सावधानी के साथ निर्दोष रीति से सम्पादन करते हैं तब उनकी अवस्था अप्रमत्त होना चाहिए। परंतु ऐसा कथन आगम की भावना के विपरीत है। प्रथम तो यह कि ऐसा मानने पर यह गुणस्थान सदोषात्मक क्रियाओं वाला ठहरेगा।

२९६. जं पुणु वि निरालंबं तं झाण गय पमाय गुणठाणे। चत्तगेहस्स जायइ धरियं जिणलिंग रूवस्स॥
- भावसंग्रह गाथा ३८१
२९७. गो.जी.गा. ३२, ३३
२९८. स.सा./प्रा.कृ. १७७-१७८
२९९. त.सू. ९/३४

दूसरा यह कि इसका काल अन्तर्मुहूर्त है (सप्तम से दुगना) और निरतिचार क्रियाओं का काल इससे अधिक ठहरता है यथा : द्वितीय तीर्थङ्कर से लेकर तेईसवें तीर्थङ्कर के कालवर्ती शिष्य प्रतिक्रमणादि सभी दण्डकों सहित हमेशा नहीं करते अपितु उनके व्रतादि में जब दोष लगते तब दोषों का प्रतिक्रमणादि करते थे,[३००] तथा छठा गुणस्थान बुद्धिपूर्वक क्रिया वाला है। सर्वत्र सावधानी पूर्वक क्रियाएं सम्पादित होती है। कदाचित् दोषादि की स्थिति बनती हैं तो उसके निवारणार्थ निंदा, गर्हा, आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित आदि से शुद्धि करण क्रिया की जाती है जो इस छठे गुणस्थान में ही संभव हैं। सप्तम गुणस्थान तो अप्रमत्त विरत संज्ञा वाला है अतः वहां तो इसका प्रश्न ही नहीं है। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि छठा गुणस्थान सदोष/निर्दोष, सातिचार/निरतिचार रूप क्रियात्मक है. ऐसा न मानने पर यह स्थान असावधानी परक ठहरेगा, परिणामतः चतुर्थकालवर्ती सभी परिहार विशुद्धि संयमधारी मुनिजन, मनःपर्ययज्ञानधारी, ऋद्धिधारी, गणधरदेव आदि सभी छठे गुणस्थानवर्ती सदोषी, सातिचारी ठहरेंगे, इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस गुणस्थान में निर्दोष आहारादि क्रियाएं भी नहीं बन सकेगी।

सप्तम गुणस्थान स्थिरात्मक है, निष्क्रियात्मक तथा ध्यानात्मक है जैसा कि गोम्मटसार जीवकांड में कहा है-**झाणणिलोणो हु अपमत्तो**।[३०१] यहां किसी प्रकार की प्रवृत्ति संभव नहीं है। यदि कहा जाय कि यहां (स्वस्थानाप्रमत्तगुण स्थान में) समिति आदि के पालन करने में किंचित् भी प्रमाद नहीं पाया जाता, निर्दोष प्रवृत्ति होती है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मान्य करने पर छट्ठे गुणस्थान में निर्दोष (परिपूर्ण) समितियों के अभाव का प्रसंग आता है तथा समितियों के बिना 28 मूलगुणों का पालन संभव नहीं है। फिर मूलगुणों से रहित छट्ठे गुणस्थान का अर्थ ही क्या रहा। यदि आशंका की जाए कि छट्ठे गुणस्थानवर्ती, पुलाक, वकुश, निर्ग्रन्थ, मुनिराज के भी मूलगुणों में दोष लगते हैं,[३०२] सो ऐसा भी कथन ठीक नहीं. दोष सदा सभी के नहीं लगते अन्यथा उनमें परस्पर भेद (पुलाक, वकुश, कुशील, प्रतिसेवनाकुशील, कषाय कुशील ....) नहीं बन

३००. मू.आ. ६२८-६३०
३०१. गो.जी./गा. ४६
३०२. स.सि. ९/४७

सकते. फिर इस गुणस्थान में छेदोपस्थापना चारित्र होता है।[३०३] तभी तो प्रतिक्रमण आलोचना प्रायश्चित प्रत्याख्यान आदि होते हैं।

अतः यह सर्वमान्य तथ्य है कि छट्ठे गुणस्थान में ही प्रवृत्ति रूप पांचों समितियों का तथा शेष मूलगुणों का प्रवृत्ति रूप से पालन होता है स्व स्थानाप्रमत्त में निर्विकल्पक धर्म ध्यान होता है.

शुद्धोपयोग के नामान्तर :-

शुद्धोपयोग शब्द के एकार्थवाची अनेक नामांतर है. कतिपय ऐसे शब्दों का उल्लेख यहां प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, नयचक्र तथा वृहद् द्रव्यसंग्रह सं. टीका के आधार से प्रस्तुत है :-

परमोपेक्षासंयम,[३०४] परमसामायिक,[३०५] शुद्धात्मसंवित्ति,[३०६] निर्विकल्पक[३०७] समाधि, वीतराग सामायिक,[३०८] परमवीतराग चारित्र,[३०९] परम साम्य श्रामण्य, निश्चयमोक्षमार्ग,[३१०] संयम,[३११] भावमोक्ष,[३१२] निश्चय रत्नत्रय उत्सर्ग[३१३] (समस्त परिग्रह का त्याग) ये सभी शुद्धोपयोग के एकार्थवाची नाम हैं. अध्यात्म की अपेक्षा द्रव्यशक्ति रूप शुद्ध पारिणामिक समाधि शुद्धोपयोग आदि नामों से कहा है। साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त निरोध आदि सभी एकार्थवाची है।[३१४] समता, मध्यस्थता, शुद्धभाव, वीतरागता, वीतराग चारित्र धर्मस्वभाव और आराधना ये सभी एकार्थवाची है।[३१५]

३०३. प्रमाद कृतानर्थ प्रबन्ध विलोपे सम्यकत्व प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विकल्प निवृत्तिर्वा
– स.सि. ९/१८/४३६/७

३०४. परमोपेक्षा संयम रूप शुद्धोपयोग ....।
– प्रवचनसार ता.वृ.१।१७ तथा गाथा २३० ता.वृ.

३०५. परमसामायिके – प्रवचनसार ता.वृ.गाथा २४६

३०६. शुद्धात्मसंवित्ति। – प्रवचनसार ता.वृ. १।१४

३०७. निश्चय मोक्षमार्ग – प्रवचनसार २४२

३०८. शुद्धोपयोग लक्षणे परमसामायिके – प्रवचनसार ता.वृ. गाथा १।१७

३०९. परमवीतराग चारित्र। – प्रवचनसार ता.वृ. गाथा २३०

३१०. देखो संदर्भ ३०७

३११. संयम – प्रवचनसार २४२

३१२. भावमोक्ष श्रामण्य – प्रवचनसार ता.वृत्ति १।८४

३१३. बाह्याभ्यंतर परिग्रह सर्वत्याज्य मित्सुत्सर्गो निश्चनयः सर्व परित्यागः परमोपेक्षासंयमो
– प्रवचनसार ता.वृ. गा. २३०

३१४. प.पं.वि. ६/६४

३१५. नयचक्र गा. ३५७

शुद्धोपयोग के स्वामी :-

गुणस्थान 6-12 तक तारतम्यता लिए हुए क्रमशः वृद्धिंगत शुद्धोपयोग (जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेदरूप) पाया जाता है, अर्थात् गुणस्थान 6-8 अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण में जघन्य शुद्धोपयोग, अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसाम्पराय 9-10 गुणस्थान में मध्यम शुद्धोपयोग तथा उपशांत मोह क्षीणमोह 11-12 गुणस्थान में उत्कृष्ट शुद्धोपयोग पाया जाता है। उक्त प्रकरण के संदर्भ में शुद्धोपयोगी की परिभाषा इस प्रकार घटित होती है। जिन्होंने (श्रमणों ने) पदार्थों और सूत्रों को भली भांति जान लिया है,जो संयम और तप से युक्त है,वीतराग है सुख-दुख में समान है, वही शुद्धोपयोगी है।[३१६]

काललब्धिवश भव्यत्व शक्ति का प्रकटीकरण शुद्ध पारिणामिक भाव है तभी निज परमात्म द्रव्य के प्रति सच्चा श्रद्धान ज्ञान आचरण (निश्चय रत्नत्रय अभेद रत्नत्रय) रूप पर्याय से परिणत आत्मा शुद्धोपयोगी कहा जाता है.तब वह परिणमन आगम भाषा में दर्शन मोह चारित्र मोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप से तीन प्रकार होता है.

अध्यात्म की भाषा में शुद्धात्माभिमुख रूप परिणाम शुद्धोपयोग है[३१७] बाह्याभ्यंतर परिग्रह मुक्त मूल उत्तर गुण सहित शुद्धोपयोग युक्त मुनि शिवपथ नायक होते है[३१८]

संयत मुनि के व्यक्ताव्यक्त प्रमादों का नष्ट होना, भेद ज्ञानयुक्त दृष्टि, शीलव्रत से युक्त, निर्विकल्प ध्यानारूढ़ की स्थिति है। वे स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी है[३१९] निरावलम्बक ध्यान रूप शुद्धोपयोग की पात्रता सप्तम गुणस्थान

३१६. सुविदिद पयत्थसुत्तो संजव तव संजुदो विगदरागो। समणो सम सह दुक्खो भणिदो सुद्धोव ओगोत्ति॥ - प्र. सा. गा. १४

३१७. सहज शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण निज परमात्म द्रव्य सम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुचरण पर्याय रूपेण परिणमति तद्य परिणमनामागभाषयौपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिकं भावत्रयं भण्यते अध्यात्म भाषया पुनः शुद्धात्माभिमुख परिणामः शुद्धोपयोगः इत्यादि।
- समयसार ता.वृ. गा. 341 सर्वविशुद्ध अधिकार

३१८. योग शब्देन वीतराग निर्विकल्प समाधिरूच्यते अथावनन्त ज्ञानादि रूपे स्वशुद्धात्मनि योजनं परिणमनं योगः स इत्थं भूतो योगोयस्यातीति स तु योगी ध्यानी तपोधन इत्यर्थः
- प.प्र.टीका २।१३७ पृ.१३८
बहिरभ्यंतर गंथ विमुक्को सुद्धोवओय संजुत्तो। - स्वणसार १४५

३१९. णट्ठासेस पमादो वयगुण सीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ झाण णिली णो हु अपमत्तो। - गो.जी.गाथा 46

में होती है[३२०] उन्हीं के संयम, शील, तप, निश्चय रत्नत्रय कर्मक्षय की क्षमता मूलोत्तर गुणों की साधना, व्रत समिति गुप्ति आदि वहिरंग चारित्र रूप वीतराग चारित्र का भाव होता है[३२१] वीतराग चारित्र के दर्शन ज्ञान दोनों अविनाभावी है। इस प्रकार निश्चय चारित्र से युक्त नियम से व्यवहार चारित्र से युक्त होते ही है और दोनों रत्नत्रय मात्र मुनिराजों को ही संभव है। चौबीस परिग्रहों से मुक्त निर्विकल्प समाधि में ठहरकर, पर वस्तु को अपने से भिन्न जानना तथा राग द्वेष विमुक्त होना आदि सभी लक्षण मुनिराज के ही प्रकट हैं, परिग्रहधारी के नहीं।[३२२] फलितार्थ यह है कि शुद्धोपयोग ही परमार्थ में मुख्य है, जो वीतराग धर्मध्यानात्मक और वीतराग शुक्ल ध्यानात्मक के भेद से दो प्रकार का है तथा यह संवर का भी मुख्य हेतु है। इसलिए मुनिजनों को उस ध्यान का सदा चिन्तवन करना आवश्यक है[३२३] समयसार में परमार्थ शब्द के द्वारा कहा जाने वाला साक्षात् मोक्ष का कारण भूत शुद्धात्म संवित्ति रूप (शुद्धोपयोग) है जिसे आगम भाषा में वीतराग धर्मध्यान या शुक्ल ध्यान कहते हैं। उसके स्वरूप को जानकर मुनिजन परम समता भाव का अनुभव करते है[३२४]

३२०. देखो संदर्भ, २९५

३२१. सुद्धहँ संजमु सीलु तउ सुद्धहँ दंसणु णाणु।
सुद्धहँ कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु॥
– परमात्म प्रकाश, अ.2, दोहा 67, पृ. 188
प्र.सा.ता.वृ. १/९२, पृ. १०४

३२२. चतुर्दशाभ्यन्तर परिग्रहाः क्षेत्रवास्तु... बाह्य परिग्रहाः इत्थं भूतान् बाह्याभ्यन्तर परिग्रहान् जगत्त्रये काल त्रयेऽपि मनो वचन कायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा शुद्धात्मोपलम्भ लक्षणे वीतराग निर्विकल्प समाधौ स्थित्वा च यो बाह्याभ्यंतर परिग्रहा भिन्नमात्मानं जानाति स परिग्रहस्योपरि राग द्वेषौ न करोति अत्रेदं व्याख्यानं एवं गुण विशिष्ट निर्ग्रन्थस्यैव शोभते न च सपरिग्रहस्येति ...।
– परमात्म प्रकाश, अ.2, दोहा 49, टीका पृ. 170, पं.11–16

३२३. सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स
तम्हा संवर हेदु झाणोत्ति विचिंतये णिच्चं।
– वा.अ.गा. 64

३२४. रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न भवंति, सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। तथाहि अनंतानुबंधि क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः। कस्मात्? इति चेत्, केवलज्ञानाद्यनन्त गुणसहित परमात्मोपादेयत्वे रूपस्य, मूढत्रयादिपंचविंशति दोषरहितस्य–संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती। वच्छल्लं अणुकंपा गुणट्ठ सम्मत्तजुत्तस्स। इति गाथा कथित लक्षणस्य चतुर्थगुणस्थानवर्ती सराग सम्यक्त्व–

सप्तम गुणस्थान में शुभोपयोग तथा धर्मध्यान :

सप्तम गुणस्थान में भी शुभोपयोग की संभावना है.क्योंकि इस विषय पर गहराई से चिंतन करने पर (शुभोपयोग शुद्धोपयोग के संदर्भ में) आचार्यों में कुछ वैचारिक मत भिन्नता दृष्टिगत होती है जिसे आचार्य श्री जयसेन जी ने एक मत सूत्र में बांधने की चेष्टा की है।

अष्ट पाहुड में आचार्य श्री कुंद कुंद स्वामी ने उपयोग को भाव शब्द से कहा है तथा उसे ध्यान घटित करते हुए रेखांकित किया है।[३२५]

असुहं अहसुद्दं सुहं धम्मं जिण वरिंदेहिं ॥

भाव - उपयोग, जो शुभ अशुभ और शुद्ध के भेद से तीन प्रकार का है. उसमें अशुभोपयोग आर्त्त रौद्र से परिणत होता है और शुभोपयोग धर्मध्यान से परिणत होता है, शुद्धोपयोग शुक्ल ध्यान से परिणत होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

उक्त कथन से स्पष्ट ध्वनित होता है कि शुभोपयोग धर्मध्यान से परिणत सप्तम गुणस्थान तक होता है तथा इस मत की सुसंगति समयसार तात्पर्य वृत्ति से ठीक बैठती है।

वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अथवा अनंतानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्ञाः क्रोधमानमाया लोभोदय जनिता रागद्वेष मोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः। कस्मात् इतिचेत् निर्विकार परमानंदैक सुखलक्षण परमात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्य पंचास्तिकाय सप्ततत्वनवपदार्थ रूधि रूपस्य मूढत्रयादि पंचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारि प्रशमसंवेगानुकम्पादेव धर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य पंचमगुणस्थानयोग्य देशचारित्राविनाभा-विसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतु :। अथवा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरण क्रोधमानमाया लोभोदयजनित राग द्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः। कस्मादिति चेत् चिदानंदैकस्वभाव शुद्धात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्य पंचास्तिकाय सप्त तत्वनवपदार्थ रूधि रूपस्यमूढत्रयादि पंचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारि प्रशमसंवेगानुकंपादे वधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य षष्ठगुणस्थानरूप सरागचरित्राविनाभाविसराग सम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अथवा अनंतानुबंध्य-प्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरण संज्वलन क्रोधमानमायालोभ तीव्रोदयजनिताः प्रमादोत्पादकाः रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः। कस्मात्? इति चेत्, शुद्धबुद्धैक स्वभाव परमात्मोपादेयत्वेसति तद्योग्यस्वकीयशुद्धात्म समाधिसंजात सहजानंदैक स्वलक्षण सुखानुभूतिमात्र स्वरूपअप्रमत्तादिगुण स्थानवर्ति वीतराग चारित्राविनाभूत वीतरागसम्यक्त्वस्यान्यानुपपत्तेरिति हेतुः। – स.सा.ता.वृ.गा.१७७.१७८

३२५. *भावंतिविह पयारं सुहासुहं सुद्ध मेव णायव्वं।*
असुहं अहसुद्दं सुहं धम्मं जिण वरिंदेहिं। – अष्टपाहुड

सराग सम्यग्दृष्टि भव्य सप्तम गुणस्थान तक शुभोपयोगी लक्षण वाला पाया जाता है।[३२६]

सातिशयाप्रमत्त गुणस्थान में शुद्धोपयोग मानने में किंचित् भी विरोध नहीं है। गुणस्थान का भाग श्रेणी के सन्मुख है। यहां से उपशम या क्षायिक किसी न किसी श्रेणी में अवश्य आरोहण होगा।

किन्तु यह भाग पंचम काल में संभव नहीं, जिससे श्रेणी आरोहण भी नहीं।[३२७] अर्थात् सातिशयाप्रमत्त का अभाव है। स्वस्थानाप्रमत्त भी सातवें गुणस्थान के उस अंश या विभाग का नाम है जहां श्रेणी की सन्मुखता नहीं है। यह भाग श्रेणी के अनभिमुख होता है तथा यह पंचम काल में संभव है। इसमें शुभ एवं शुद्धोपयोग के स्पष्ट आगम प्रमाण भी प्राप्त हैं। अर्थात् दोनों उपयोग संभव है परंतु किसी भी साधक को युगपत् नहीं होंगे। नाना जीवों की अपेक्षा एक समय में किसी को शुभ किसी को शुद्ध उपयोग पाया जा सकता है किन्तु एक जीव की अपेक्षा एक समय में एक ही उपयोग पाया जायगा। युगपत् दो मानने से उपयोग का एक मिश्र भेद भी स्वीकार कर उन्हें चार प्रकार से (भेद) मानना पड़ेगा जो आगम सम्मत नहीं है।

इस गुणस्थान के स्वस्थानाप्रमत्त भाग में प्रवृत्ति निवृत्ति की अपेक्षा दो अवस्थाएं प्राप्त हैं जो श्रेणी आरोह-अवरोह के कारण बनती है। आरोह दशा में प्रमत्त से अप्रमत्त बनने में विशुद्धि अधिक है तथा शुद्धोपयोग पाया जाता है. अवरोह दशा में ठीक इससे विपरीत स्थिति है। विशुद्धि की अपेक्षा हीयमान दशा है अर्थात् अप्रमत्त से प्रमत्त दशा में अवरोह होने से भावों की विशुद्धि में हीनता शुद्धोपयोग की बजाय शुभोपयोग में प्रवृत्ति पायी जाती है। इस प्रकार आचार्य श्री जयसेन जी के दोनों प्रमाण अच्छी तरह घटित होते हैं। विज्ञपाठक सिर्फ इसी गुण स्थान में इसे घटित करें, अन्य गुणस्थानों में नहीं।

३२६. अशुद्धे सम्यग्दृष्टयापेक्षा श्रावकापेक्षणा सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणे शुभोपयोग प्रमत्ता प्रमत्तापेक्षया च भेद रत्नत्रय लक्षणे वा स्थिता:। - स. सा. ता. वृ. गाथा 14

३२७. देखो संदर्भ ३३७

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वस्थानाप्रमत्त गुणस्थान में आरोह दशा में शुद्धोपयोग तथा अवरोह में शुभोपयोग दोनो ही उपयोग पाये जाते हैं किन्तु नीचे के गुणस्थानों में (6,5,4) तो किंचित् व कदाचित् भी शुद्धोपयोग नहीं पाया जाता है। ये स्थान सराग धर्मध्यानात्मक शुभोपयोग युक्त हैं.शुद्धोपयोग युक्त नहीं, जिसकी वीतराग धर्मध्यान के साथ अन्यथानुप्पत्ति है।[३२८]

उपरोक्त विवेचन से यह तथ्य ध्वनित होता है कि आचार्य श्री जयसेन जी को विभिन्न आचार्यों के मात्र दो ही प्रमाण मिले हों और विशेष विवेचना में न पड़कर दोनों को अपने ग्रन्थ में (टीका में) स्थान दे दिया अथवा टीका करते समय (नय विवक्षा से) उनके ही विचार भिन्न-भिन्न रहे हो अथवा दोनों प्रमाणों की अपेक्षा ही भिन्न-भिन्न रही हो,कुछ भी हो,किन्तु इतना तो सुनिश्चित है कि सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान से शुद्धोपयोग का प्रारंभ होता है- चौथे पांचवे गुणस्थान से नहीं,जैसी कि कतिपय लोगों ने धारणा बना रखी है और तदनुरूप प्रवृत्तियों में लीन हैं।

यदि कोई यहां आशंका करे कि प्रचुर शुभोपयोगियों को भी कभी कदाचित् शुद्धोपयोग पाया जाता है तो उसे शुभोपयोग ही कहा जाता है जैसे नीम वन में दो चार आम्र वृक्ष भी हों तो वह नीम वन ही कहलाता है। प्रचुर शुद्धोपयोगियों को क्वचित् किंचित् शुभोपयोग पाये जाने पर शुद्धोपयोगी कहा जाता है तथैव क्वचित् कथंचित् शुभोपयोग प्रधान होने से शुभोपयोगी कहे जाते हैं। अब यदि कोई ४-५-६ गुणस्थानवर्ती जीवों को भी क्वचित् किंचित् शुद्धोपयोगी मान लें तो क्या हानि है ? इस संदर्भ में समाधान परक उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि जिसका विधान आगम में विधि रूप से नहीं हैं तथा निषेध स्पष्ट है ऐसा जानकर भी यदि कोई पूर्वाग्रह को नहीं छोड़ें तो समझो वह तीव्र मिथ्यादृष्टि है। सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमिचंद्राचार्य का यह कथन पर्याप्त है।[३२९]

अर्थात् सूत्र - आगम वाक्य को देख पढ़कर तथा गुरुओं द्वारा समझाये जाने पर भी यदि कोई अपना पूर्वाग्रह नहीं छोड़ता है तो उसी समय वह मिथ्या दृष्टि हो जाता है तथा कोई अज्ञानी श्रद्धावश परमवीतरागी गुरूजनों के वचनों को

३२८. परमार्थ शब्दाभिधेयं साक्षान्मोक्ष कारणभूतं शुद्धात्मसंवित्ति लक्षणं परमागम भाषया वीतराग धर्मध्यान शुक्लध्यान स्वरूपंस्वसंवेद्य शुद्धात्मदं परम समरसी भावेन अनुभवति .... न चान्यः। – समयसार ता.वृ. ६/215

३२९. सम्माइट्ठीजीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरूणियोगा।
सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदाण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छा इट्ठी जीवो तदो पहुदी – गो.जी.मू.गा. २७-२८.

सही न समझकर गलत श्रद्धान करता है कि गुरू का ऐसा उपदेश है, तब भी वह सम्यग्दृष्टि है। क्षयोपशम की कमी या स्मृति की मंदता के कारण गलत सुन समझ मानता रहता है (भावना में खोट नहीं है) इस कारण वह सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। कालान्तर में स्पष्ट समझ होने पर गलती सुधार भी लेता है[३३०] जबकि हठाग्रही की धारणा एकदम विपरीत है।

शुद्धोपयोग को मात्र सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में माना जाए तो पंचम काल में उसका अभाव ठहरता है। जबकि आचार्यों का मत है कि भरत क्षेत्र के पंचमकालवर्ती मुनियों को आज भी वीतराग निर्विकल्पक धर्म ध्यान होता है और यह ध्यान ही शुद्धोपयोग है[३३१] आत्म स्वभाव में स्थित साधुओं को निश्चय धर्मध्यान न मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

उक्त विवेचना का तात्पर्य मात्र इतना है कि आज पंचमकाल में हीन संहनन हैं तथा इनसे सामायिक छेदोपस्थापना चारित्र का आचरण संभव है (आगे के चारित्र संभव नहीं) अतः धर्म ध्यान पूर्वक भव-छेदक परंपरा मुक्ति का कारण भूत[३३२] यह उत्तम मार्ग श्रद्धा भक्ति ज्ञानपूर्वक आचरण करना चाहिए.

अप्रमत्त गुणस्थान में वीतराग धर्मध्यानात्मक शुद्धोपयोग :

वीतराग निर्विकल्प धर्मध्यान सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान में होता है। श्री ब्रह्मदेव सूरि ने इसे वीतराग निर्विकल्प समाधि,[३३३] श्री देव सेन आचार्य ने निरावलंब धर्मध्यान[३३४] कहा है. शाब्दिक भिन्नता के अतिरिक्त ये सभी एकार्थवाची शब्द है। परमार्थ में शुद्धोपयोग ही मुख्य है. शुद्धात्मा की प्राप्ति का मुख्य आधार है। अध्यात्म ग्रन्थों में वीतराग धर्मध्यानात्मक एवं शुक्ल ध्यानात्मक द्विविध रूप विवेचना पायी जाती है।

---

३३०. देखो संदर्भ ३२९

३३१. मोक्षपाहुड गा. ७६

३३२. अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्ल ध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तनम्॥
अत्र येन कारणेन परमात्मध्यानेनान्तर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन
कारणेनसंसारस्थितिच्छेदनार्थमिदानीमपि ध्यातव्यमिति।
– **परमात्म प्रकाश**, अ.1, दोहा 97, पृ. 92

३३३. द्र. द्र. सं. टी., पृ. १६१, तथैव स्व शुद्धात्मनि निर्विकल्प समाधिलक्षणं

३३४. देखो, संदर्भ, २९०, २९६

आचार्यों द्वारा परमार्थ शब्द से कहा जाने वाला साक्षात् मोक्ष का कारणभूत शुद्धोपयोग को शुद्धात्म संविति रूप है, आगम भाषा में वीतराग धर्मध्यान या शुक्ल ध्यान होता है जो संवर का मुख्य हेतु है और मुनिजनों को ऐसे ध्यान का सदैव चिंतन करना चाहिए।[३३५] बिना ध्यान के मोहादि का अभाव नहीं होता, शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती और न ही उसे मोक्ष प्राप्ति की संभावना है। एतदर्थ साधकों के लिए शुद्धोपयोग रूप ध्यान की अनिवार्यता प्रति पल बताई गई है।

यदि कोई (प्रभाकर भट्ट) यहां आशंका करे कि निजात्म ध्यान से अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष होता है तो सम्प्रति ध्यानस्थ मुनिजनों को क्यों नहीं होता ? तो इसका समाधान करते हुए आचार्य श्री योगीन्दु देव कहते हैं कि वर्तमान में संहनन हीनता के कारण जैसा शुक्ल ध्यान वज्रवृषभनाराच संहननधारी करते हैं, वैसा संभव नहीं है। पंचम काल में निर्विकल्प धर्मध्यानात्मक शुद्धोपयोग होता है।[३३६] वीतराग सर्वज्ञ देव ने भरतादि क्षेत्र, दुःषमाकाल में, वीतराग शुक्ल ध्यान का निषेध बताया है, मात्र धर्म ध्यान हो सकता है।[३३७]

चतुर्थकालवर्ती मुनिराजों को शुक्ल ध्यान रूपी स्वसंवेदन की जो अनुभूति होती है, वैसी वर्तमान पंचमकाल में नहीं हो सकती किन्तु धर्मध्यान रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है।[३३८] जघन्य उत्कृष्टयादि सराग चारित्र की भांति वीतराग चारित्र की सामग्री भी यथासंभव है. इसीलिए सर्वज्ञदेव ने पंचमकाल में शुद्धचारित्र के अस्तित्व का उपदेश दिया है।[३३९]

---

३३५. देखो, संदर्भ, २९६। तथा–तं परमात्म्यानं समाधौ स्थित्वा भावयेत्।
– प. प्र. टी. पृ. १/४८

३३६. देखो संदर्भ, ३३०

३३७. अत्राह शिष्यः। यद्यन्तर्मुहूर्त परमात्मा ध्यानेन मोक्षो भवति तर्हि इदानीम स्माकं तद्ध्यानं कुर्वाणानां किं न भवति ? परिहारमाह यादृशं तेषां प्रथम संहनन सहितानां शुक्ल ध्यानं भवति तादृश मिदानींना स्तीति। तथा चोक्तं अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्ल ध्यानं जिनोत्तमाः धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तनम्। – प्र.सा.ता.वृ. 1।97
यादृशं पूर्व पुरुषाणां शुक्ल ध्यान रूपं स्वसंवेदन ज्ञानं तादृश मिदानीं नास्ति किन्तु धर्मध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थः। – स.सा.ता.वृ.1।11

३३८. यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्ल ध्यानरुपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानी नास्ति किंतु धर्मध्यानं योगमस्तीत्यर्थः। – स. सा., ता. वृ. १/११

३३९. अज्ज वितियरण सुद्धा अप्पा झाऊण लहहिं इंदत्तं लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति॥

ध्यान के संदर्भ में उत्तम संहनन के अभाव को प्रमुख आधार बनाकर प्रभाकर भट्ट पुनः आशंका व्यक्त करता है कि ध्यान निर्जरा का कारण है और वह एकाग्र चित्त का निरोध हुए बिना असंभव है क्योंकि ऐसा ध्यान श्रेष्ठ संहननधारी के होता है।[३४०] आचार्य ने इस शंका का निराकरण करते हुए स्पष्ट किया है कि आठवे से उपशम श्रेणी वाले मुनिजनों की अपेक्षा जो ध्यान कहा है उसमें उत्तम संहनन की अनिवार्यता है। यहां श्रेणी आरूढ़ की उपशामक संज्ञा है तथा कालक्षय से श्रेणी अवरोह होता है। क्षपक श्रेणी एक वज्रवृषभ नाराच संहनन वालों को होती है वह आठवें से क्रमशः आरोहण कर बारहवें गुणस्थान तक पहुंचते हैं। उनके शुक्ल ध्यान का प्रथम चरण होता है। सभी आचार्यों ने शुद्धोपयोग को शुक्ल ध्यान से युक्त स्वीकार किया है प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति में आचार्य लिखते है[३४१] इस कथन से स्पष्ट है कि भाषा कथन शैली या मात्र शब्द भेद का अंतर है लेकिन मूल नियम सर्वज्ञ का उपदेश एक रूप है। आशय एक ही है, जिसे

यथादि त्रिक संहनन लक्षण वीतराग यथाख्यात चारित्राभावेऽपीदानीं शेषसंहननेनापि शेष चारित्रमाचरन्ति तपस्विनः तथा त्रिक संहनन लक्षण शुक्लध्यानाभावेऽपि शेषसंहननेनापि संसार स्थितिच्छेद कारणं परंपरया मुक्तिकारणं च धर्मध्यानमाचरन्तीति ॥

– परमात्म प्रकाश, अ.2, दो.-36, पृ. 158 पंक्ति 4-9

देखो संदर्भ २८७

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स। तं अप्पसहावठिदेण हुमण्ण इ सोवि अण्णाणी।

– मो.पा.गा. 76

३४०. अत्राह प्रभाकर भट्ट : ध्यानेन निर्जरा भणिता भवद्भिः उत्तम संहनन स्यैकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानमिति ध्यान लक्षणं उत्तम संहनना भावे कथं ध्यानमिति भगवानाह। उत्तमसंहनेन यद्ध्यानं भणितं तद पूर्व गुणस्थानादिपूपशम क्षपक श्रेण्योर्यतः शुक्ल ध्यानं तदपेक्षया भणितम्। अपूर्व गुणस्थानादध स्तन गुणस्थानेषु धर्म ध्यान स्य निषेधकं न भवति तथा चोक्तं तत्वानुशासने ध्यान ग्रंथे –

यत्पुनर्वज कायस्य ध्यान मित्यागमे वचः श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्नि षेधकम्। किंच राग द्वेषाभाव लक्षणं परमं यथाख्यात रूपं स्वरूपे चरणं निश्चय चारित्रं भणन्ति इदानीं तद्भावे चारित्र माचरन्तु तपोधनाः तथा चोक्तं तत्रैदम् चारितारोन सन्त्यद्य यथाख्यातस्स संप्रति। तत्किमन्ये यथा शक्ति माचरन्तु तपस्विनः। पुनश्चोक्तं श्री कुंदकुंदाचार्य देवैः मोक्षप्राभृते अज्ञवितिरयण सुद्धा अप्पा झाउण लहहिं लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥77॥

अयमत्र भावार्थः यथादि त्रिक संहनन लक्षण वीतराग यथा ख्यात चारित्राभावेऽपी दानीं शेष संहनने नापि शेष चारित्रमाचरन्ति तपस्विनः तथादिक त्रिक संहनन लक्षणं शुक्ल ध्यानाभावेऽपि शेष संहनेनापि शेष चारित्र माचरन्ति तपस्विनः तथा त्रिक संहनन लक्षण शुक्ल ध्यानाभावेऽपि संसार स्थिति च्छेद कारणं परंपरया मुक्तिकारणं च धर्मध्यानमाचरन्ति।

– प्र.सा.ता.वृ. 2/36

३४१. निर्मोह शुद्धात्म संविति लक्षणेन शुद्धोपयोग संज्ञेनागम भाषया पृथक्त्व वितर्क वीचार प्रथम शुक्ल ध्यानेन ...

अध्यात्म भाषा में शुद्धोपयोग कहा है वह आगम भाषा में शुक्ल ध्यान है, जिसका अविनाभावी संबंध शुद्धोपयोग से है तथा आठवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है। वृहद् द्रव्य संग्रह टीका में इसी भाव को व्यक्त किया गया है।[३४२]

अर्थात् 8-11 गुणस्थान उपशम श्रेणी की अपेक्षा तथा 8-10 गुणस्थान में क्षपक श्रेणी की अपेक्षा प्रथम शुक्ल ध्यान कहा है। द्वितीय शुक्ल ध्यान (क्षपक) 12 वें गुणस्थान में होता है।[३४३]

गुणस्थान तेरह चौदह में शुक्ल ध्यान के शेष दो भेद पाये जाते है[३४४] जो कि शुद्धोपयोग के फलरूप हैं। क्योंकि केवली के पास ध्यान का कोई प्रकरण नहीं रहता।पूर्ण केवल ज्ञान बल प्रकट है। आचार्य ने कहा भी है सयोग केवली को योग निरोध करते समय सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती तीसरा शुक्ल ध्यान होता है[३४५] जिसके माध्यम से अरहंत परमात्मा अघातिया कर्मों की स्थिति को समान करते हैं। सातावेदनीय की बंध व्युच्छिति, 39 प्रकृतियों की उदीरणा व्युच्छिति हो जाती है। तथा चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान की उपलब्धि होती है।[३४६] इस गुणस्थान में मात्र पांच ह्रस्व अक्षर प्रमाण काल में शेष 85 कर्म प्रकृतियों की सत्ताक्षय कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। यहां अयोग केवली को व्युपरतक्रियानिर्वति नामक चौथा शुक्ल.ध्यान होता है।[३४७] सिद्ध दशा में आत्मस्वरूप का सहज आनंद रस पान करते हैं।अंतिम दो शुक्ल ध्यान मात्र उपचार से है। केवल ज्ञान दर्शन के पश्चात् ध्यान की भूमिका कथन मात्र है।

३४२. तद्योपशम श्रेणी विवक्षायाम पूर्वोपशम का निवृत्युपशमक सूक्ष्म साम्परायोप कोपशान्तकषाय पर्यन्त गुणस्थान चतुष्टये भवति क्षपक श्रेण्यां पुनरपूर्वकरण क्षपकानिवृत्तिकरण क्षपक सूक्ष्म सांपराय क्षपकाभिधान गुणस्थान त्रये चेति प्रथमं शुक्ल ध्यानं व्याख्यातं। - वृ.द्र.सं.टी. ४८/२०४/७

३४३. क्षीण कषाय गुणस्थान संभवं द्वितीय शुक्ल ध्यानं - वृ.द्र.सं.टी. ४८/२०४/७

३४४. परे केवलिनः तस्, ९/२८

३४५. काय योगस्य सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति अयोगस्य व्युपरत क्रिया निर्वर्तीति - स.सि. ९/४०

३४६. स.सि. ९/४०
क्षपणासार गा. 253-54 टीका पृ. 214

३४७. ततस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिर्वत्ति ध्यानमारभते। - स.सि. ९/४४/४५७/६ तथा रा.वा. ८/४४/१/६३५/११
विशेषेणोपरतानिवृत्ता क्रिया यत्र तद व्युपरतक्रियं .... चतुर्थ शुक्ल ध्यानं।
- द्र.सं.टी. ४८/२०४/९

अब वीतराग चारित्र की अपेक्षा से भी किंचित् प्रकाश डालना यहां उपयुक्त होगा। अध्यात्म ग्रन्थों में वीतराग चारित्रात्मक शुद्धोपयोग का प्रारंभ सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान से प्रारंभ होता है क्योंकि शुद्धोपयोग को वीतराग चारित्र का ही पर्यायवाची माना गया है तथा यह निश्चय एवं अंतरंग चारित्र है। यह चारित्र व्रत समिति आदि वहिरंग चारित्र होने पर ही संभव है[३४८] शुद्धात्मा के निश्चल आत्मानुभूति लक्षणवाले सम्यग्दर्शन ज्ञानादि अविनाभूत वीतराग चारित्र होता है तथा इससे सम्पन्न योगियों को शुद्धोपयोग होता है।

किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने इस चारित्र का प्रारंभ 11 वें गुणस्थान से माना है अथवा 12 वें (क्षपक) क्षीणमोह गुणस्थान माना है जो क्रमशः 14 वें गुणस्थान में पूर्ण होता है[३४९] फिर भी इतना सत्य है कि यहां सम्पूर्ण कथन अध्यात्म ग्रन्थों की अपेक्षा से घटित करना है, आगम ग्रन्थों के आधार से नहीं।

रागद्वेष के अभाव रूप उत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र (स्वरूपाचरण चारित्र) ही निश्चय चारित्र है जो कि इस पंचम काल में तथा भरतादि क्षेत्रों में संभव नहीं है। चारित्र के 5 भेदों में से मात्र दो सामायिक छेदोपस्थापना चारित्र ही आज पाये जाते हैं[३५०] तथा इन्हीं के आचरण की चर्चा आगम में है। आचार्य कुंद कुंद स्वामी ने मोक्षपाहुड में कहा है कि त्रियोग विशुद्धि पूर्वक रत्नत्रय की आराधना से मुनिजन इन्द्रादि के वैभव प्राप्त कर क्रमशः उत्तम नर पर्याय धारण कर परम निर्वाणपद प्राप्त करते हैं। अतः इस काल में मनोयोग पूर्वक इसी मार्ग का आचरण करना चाहिएइसी में भव्यजनों का कल्याण हैं।

उपरोक्त संपूर्ण विवेचना का निष्कर्ष यही है कि कल्याण मार्ग पर अग्रसर भव्यजन आर्षवाणी की व्याख्या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को ध्यान में रखकर श्रेय-प्रेय का चयन कर सकते हैं।शाब्दिक अर्थ के भ्रम जाल से विपरीत मार्ग में गति हो सकती है जिसका परिणाम अनंत संसार भ्रमण चक्र में फंसकर केवल

३४८. प्र.सा./ता.वृ. १/९२१ पृ. १०४
३४९. पं.सं./प्रा./१/२७-३०
जेसिं ण संति जेगा सुहासुहा
पुण्णपाप संचणया।
ते होंति अजोइ जिणा अणोव माणंत गुण कलिया – **प.सं.प्रा.** १/१००
३५०. गो.क./जी.प्र.५४७/७१४/५

दुःख भोगना मात्र है। पर्यायगत योग्यता को नजरंदाज कर वर्तमान में ही पूर्ण सर्व विशुद्ध की भावना मात्र से प्रशस्त पथ में बढ़ पाना टेढ़ी खीर है,मंजिल तक पहुंचने का लक्ष्य है तो तदनुसार पथ (चारित्र मार्ग) पर प्रवृत्ति भी अनिवार्य है।बन्धन को जाने बिना बंधन से छूटने का कोई भी प्रयास सफल नहीं होगा।अतः सभी भव्य प्राणियों को शुद्धोपयोग की पात्रता का भलीभांति मनन कर आत्महितकारी मार्ग में अग्रसर होने की चेष्टा करना चाहिए। जो वर्तमान पर्याय और पंचम काल में संभव है।

*****

जीवन का आधार – सभ्य संस्कार

जीवन वह एक आधार बिन्दु है जहाँ पर हमारा जन्म आत्मा से परमात्मा बनने के लिये, पतित से पावन तथा निर्माण से निर्वाण के लिये होता है। मनुष्य वह है जो स्व तथा पर के जीवन के विषय में सोचते हैं, हित तथा कल्याण के विषय में सोचते हैं। यदि तुम्हारे घर में प्रकाश है तो सारे संसार में प्रकाश हो सकता है। शांति का उद्गम सद्कर्त्तव्यों से होता है। दुख ऐसा बीज है कि उस बीज से उत्पन्न वृक्ष की प्रत्येक डाल, फल, फूल, पत्ती सब दुख देते हैं।

देश के विद्वानों के समीक्षात्मक अभिमत

परिशिष्ट

शुद्धोपयोग विषयक शंका समाधान

* लेखक *
आचार्य विरागसागरजी

* शुध्दोपयोग विषयक- शंका समाधान *

परिशिष्ट अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका	पृष्ठ	शंका समाधान संख्या
दो शब्द		
प्रस्तावना		
सुवृत्तं ग्राह्यं		
१) उपयोग	६९	८
२) समास	७४	३
३) सम्यग्दर्शन	७७	१३
४) सम्यग्ज्ञान	८६	२०
अ) द्रव्यश्रुत		
ब) भावश्रुत		
४) सम्यग्चारित्र	९२	२१
६) वासनाकाल व शुध्दोपयोग	१००	७
७) भावना	१०२	१०
८) मोक्षमार्ग-रत्नत्रय	१०६	२६
९) आत्मा	१२०	९
१०) संवर	१२३	१५
११) शुद्धोपयोग	१३०	११

शंका समाधान चर्चा

(१) उपयोग

उपयोग शब्द का प्रयोग आगम एवं अध्यात्म ग्रंथों में दोनों जगह हुआ है। पर दोनों के अर्थ स्वतंत्र हैं।

(१) आगमिक दृष्टि से उपयोग शब्द का अर्थ ज्ञानोपयोग या दर्शनोपयोग होता है। यह चैतन्य का बाह्याभ्यंतर निमित्त वश होनेवाला जीव का अनुविधायी परिणाम है। इसका प्रयोग आचार्यों ने ''उपयोगो लक्षणं'' के अनुसार जीव के लक्षण के अर्थ में किया है।

(२) आध्यात्मिक दृष्टि से अध्यात्म ग्रंथों में उपयोग शब्द का अर्थ अनुष्ठान स्वरूप सम्यक् या मिथ्या चारित्रात्मक कहा है। अथवा अप्रशस्त (आर्त-रौद्र ध्यानात्मक) प्रशस्त सराग सविकल्प धर्मध्यानात्मक एवं निर्विकल्प धर्म तथा शुक्ल ध्यानात्मक कहा है। इसी कारण से उसको अशुभोपयोग, शुभोपयोग व शुध्दोपयोग नाम से कथन किया जाता है। इसप्रकार दोनों जगह उपयोग यह शब्द पृथक्-पृथक् अर्थों में प्रयुक्त है।

१. शंका– क्या आगमिक (जीवके लक्षणात्मक) तथा आध्यात्मिक (जीव के अनुष्ठानात्मक) उपयोग की परिभाषाएँ एक ही हैं या अलग अलग ?

समाधान–आगम ग्रंथों में कथित जीव के लक्षण स्वरूप उपयोग तथा अध्यात्मग्रंथों में कथित अनुष्ठानात्मक उपयोग एक नहीं है, अलग अलग है। जैसा कि बृहद्द्रव्य संग्रह में कहा है कि -**ज्ञान दर्शनोपयोग विवक्षायामुपयोग शब्देन विविक्षितार्थ परिच्छित्ति लंक्षणो अर्थ ग्रहण व्यापारो गृह्यते। शुभाशुभ शुध्दोपयोग त्रय विवक्षायां पुनः उपयोग शब्देन शुभाशुभ शुध्द भावनैकरूप मनुष्ठानं ज्ञातव्यमिति॥** बृ.द्र. सं. टी., गा. ६, पृष्ठ १५

अर्थात् ज्ञान और दर्शन की विवक्षा में उपयोग शब्द से अर्थ परिच्छित्ति है लक्षण जिसका, ऐसा अर्थग्रहण रूप व्यापार ग्रहण किया जाता है। तथा शुभ अशुभ व शुध्द इन तीन की विवक्षा करने पर उपयोग शब्द से शुभ, अशुभ और शुध्द भाव रूप एक अनुष्ठान (चारित्र) जानना चाहिए।

२. शंका– अनुष्ठान का अर्थ चारित्र किस प्रमाण से है ?

समाधान– बृ.द्र.सं. २/३५ में 'सम्यक् श्रध्दान् ज्ञानानुष्ठान' वाक्य में आये अनुष्ठान शब्द से यहाँ चारित्र रूप ध्यान ऐसा अर्थ किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाण से सिध्द है कि दोनों उपयोग एक नहीं है, उन्हें एक मानना सबसे बड़ी भूल है। क्योंकि आगम ग्रंथों में जीव के लक्षणात्मक उपयोग के (शुध्द व अशुध्द) ऐसे दो भेद तो किये गये हैं किन्तु उसके शुभ, अशुभ व शुध्द ऐसे तीन भेद नहीं किये गये हैं। और शुध्द ज्ञान दर्शन ऐसा अर्थ करने से मात्र १३, १४ वें गुणस्थानवर्ती अर्हंत या सिध्द ही शुध्द ज्ञान (केवल ज्ञान) शुध्ददर्शन (केवल दर्शन) होनें से शुध्दोपयोग घटित होगा शेष को नहीं, और ऐसा मानने से अप्रमत्तादि क्षीण कषाय पर्यंत तारतम्येन शुध्दोपयोगो वर्तते यह समयसार ता.वृ. तथा बृ. द्र.सं.टी. में आगम वाक्य बाधित (गलत) ठहरेगें। अथवा शुभाशुभ शुध्द द्रव्यावलंबन उपयोग लक्षणम् (प्र.सा. ता.वृ. १५९)

इसका अर्थ शुभ, अशुभ, शुध्द द्रव्य के जाननें देखने रूप में आलंबन अर्थ ग्रहणकिया जाये सो भी ठीक नहीं है । क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव भी अपने अपने क्षयोपशमानुसार शुभ द्रव्य (दान, पूजा आदि को) अशुभ द्रव्य (हिंसा, झूठ आदि पाप को) तथा शुध्द द्रव्य (अर्हंत सिध्द आदि को) आत्म द्रव्य या तद्विषयक आगम वाक्यों को जानता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि ग्यारह अंग व नव पूर्व का ज्ञाता हो सकता है तथा ऐसा भी नहीं कि वह उन्हें द्रव्य रूप से जानता नहीं है। जानना देखना ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम आदि की अपेक्षा रखता है। और श्रध्दा मोहनीय कर्म की अपेक्षा रखती है। अत: वह शुध्दद्रव्य को जानता देखता है उनका आलंबन भी लेता है उसे भी शुध्दोपयोग मानना पड़ेगा जिससे आगम और अध्यात्म दोनों में विशेष विरोध खड़ा होगा।

इसलिये यहाँ अशुध्द निश्चय नयसे अशुभ रागादि में परिणत १ से ३ गुणस्थानवर्ती आत्मा ही अशुभ द्रव्य कहलायेगा। और ऐसे अशुभ द्रव्य के अवलंबन लेने को अशुभोपयोग तथा बुध्दिपूर्वक पुण्यादि वर्ध्दक शुभ (प्रशस्त रागादि) से परिणत ४ था या १ - ६ गुणस्थानवर्ती) आत्मा ही शुभ द्रव्य कहलायेगा और उस शुभ द्रव्य के आलंबन लेनें को शुभोपयोग। एवं बुध्दि पूर्वक होने वाले शुभाशुभ रागादि विकल्पों के अभाव से एक देश शुध्द निश्चय नय के विषय भूत आत्मा (७ सें ऊपर गुणस्थानवर्ती) शुध्द आत्मद्रव्य कहलायेगा। उस शुध्दद्रव्य के आलम्बन लेने को शुध्दोपयोग कहते है। ऐसाही अर्थ यहाँ उचित है। इसे ही ग्रहण करना चाहिए, तथा इसी प्रकार ही ग्रहण करना चाहिए किन्तु अन्य रूप से या अन्यथा रूप से ग्रहण नही करना चाहिए।

३. शंका– शुध्द द्रव्यार्थिक नय से तो ''सव्वेशुद्धाहु शुध्द णया'' अर्थात् सभी जीव द्रव्य शुध्द हैं । अत: इसका आश्रय होने से शुध्दोपयोग होता है ?
समाधान– ऐसा भी नहीं है। क्योंकि ग्यारह अंग नव पूर्व के धारी मिथ्यादृष्टि भी इस नय के आश्रय से द्रव्य श्रुत के द्वारा अपने जीव द्रव्य को वैसा ही जानता है तो उसे भी शुध्दोपयोगी होना चाहिए ? किन्तु नहीं होता है । अत: शुध्दद्रव्य का आश्रय मात्र ही शुध्दोपयोग नहीं है। अपितु अभेद रत्नत्रय से परिणत आत्माही शुध्दद्रव्य है और वीतराग निर्विकल्प समाधि में उस शुध्दद्रव्य का ही आश्रय लिया जाता है, तभी शुध्दोपयोग होता है।

४. शंका– क्या अनुष्ठानात्मक उपयोग व लक्षणात्मक उपयोग दोनों युगपत् रहते हैं या अलग - अलग। इसमें व्याप्ति घटित कीजिये ?
समाधान– लक्षणात्मक उपयोग तो प्रत्येक जीव का लक्षण है । वह नियम से सदा साथ रहता है। किन्तु अनुष्ठान का नियम नहीं है। वह रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता है।

अर्थात् १३ -१४ वें गुणस्थानवर्ती जीवों को तथा सिध्द जीवों को अनुष्ठानात्मक रूप उपयोग नहीं होता है । शेष जीवों को रहता है । ७-१२ गुणस्थानवर्ती जीवों के मात्र शुध्दोपयोग ही रहता है, शुभाशुभ उपयोग नहीं होता हैं किसी अपेक्षासे सप्तम गुणस्थान से गिरते समय उन्हें शुभोपयोग भी संभव है किन्तु अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त करते समय ४-६ गुणस्थानवर्ती जीवों के मोक्ष साधक शुभोपयोग होता है। तथा आर्त रौद्र आदि के समय अशुभोपयोग भी संभव है। १-३ गुणस्थानों में अशुभोपयोग प्रमुख रूप से होता है किन्तु मात्र पुण्य बंधक शुभोपयोग भी संभव है। ये तीनों शुभ-अशुभ और शुध्दोपयोग जीव के जिस समय होता है उस समय जीव के लक्षणात्मक उपयोग तो रहता ही है यदि वह न रहे तो फिर जीवत्वपने का ही अभाव हो जायेगा। अत: जहाँ-जहाँ जीव के ज्ञान दर्शन रूप उपयोग रहता है वहाँ-वहाँ अनुष्ठानात्मक उपयोग रह भी सकता है और नहीं भी, कोई नियम नहीं है।

५. शंका - अनुष्ठानात्मक उपयोग १२ वें गुणस्थान तक ही क्यों पाया जाता है ?
समाधान- छद्मस्थों का अनुष्ठान (ध्यान) क्षायोपशमिक ज्ञान रूप ही होता है। और क्षायोपशमिक ज्ञान १२ वें गुणस्थान तक ही होता है। इसके आगे नहीं।

यही कारण है कि उत्कृष्ट शुध्दोपयोग यहाँ तक ही पाया जाता है, इसके आगे नहीं।

६. **शंका**– अनुष्ठानात्मक उपयोग क्या स्वभाव द्रव्य है या स्वभाव पर्याय है?
समाधान– नहीं, न स्वभाव द्रव्य है, न स्वभाव पर्याय है । किन्तु शुभाशुभोपयोग अशद्ध पर्याय है तथा शुद्धोपयोग अशुध्द नय के अंतर्गत एकदेश शुध्द नय स्वरूप ध्यान की एक पर्याय है।

७. शंका- क्या शुभ या अशुभ उपयोग ज्ञान गुण की पर्याय है?
उपयोग शुभ राग को विषय करता है या साथ देता है तो शुभोपयोग और अशुभ राग को विषय करता है या साथ दे तो अशुभोपयोग होता है।
समाधान– ऐसा कथन बिल्कुल गलत है। आगम विरुध्द ही है । क्योंकि यदि (शुभो- अशुभो या शुध्दोपयोग को) ज्ञान गुण की पर्याय मान लेगें तो फिर शुध्दोपयोग १३,१४ वें गुणस्थान में व सिध्दों को भी मानना पडेगा और ऐसा मानेंगे तो ७ से १२ वें गुणस्थान तक शुध्दोपयोग होता है, ऐसा आगम का कथन गलत ठहरेगा।

८. **शंका**– तब शुभ या अशुभ राग को विषय करता है या साथ देता है इसलिए उपयोग शुभोपयोग या अशुभोपयोग मानें ?
समाधान– नहीं, ऐसा नहीं है । क्योंकि यदि शुभ या अशुभ राग का विषय करनेवाले उपयोग को शुभोपयोग या अशुभोपयोग मानें तो फिर केवलियों को भी शुभोपयोगी या अशुभोपयोगी मानना पड़ेगा । क्योंकि उनके ज्ञान में विश्व की त्रिकालवर्ती पर्यायें युगपत् झलकती हैं और उसके शुभराग अशुभराग भी झलकता है और केवलज्ञान उसका विषय करता है। अत: वे भी वैसे ही ठहरेंगे । अर्थात् शुभाशुभ शुध्द पर्याय केवल ज्ञान का विषय होने से केवलज्ञानोपयोग भी वैसा ही शुभाशुभ ठहरेगा। अथवा वे पर्यायें यदि उनके ज्ञान का विषय नहीं बनती है तो फिर सर्व द्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। - त.सू. १/२८ यह सूत्र गलत ठहरता है।अत: सिध्द है कि शुभ अशुभ राग को विषय करनेवाला उपयोग शुभ या अशुभ है मानना गलत है । अथवा जब उपयोग शुभ राग का साथ दे शुभोपयोग और अशुभराग का साथ दे तो अशुभोपयोग, यह कहना भी गलत है । क्योंकि प्रत्येक गुण व उनकी पर्यायें स्वतंत्र हैं। न वे किसी का साथ देती हैं और न किसी का साथ लेती हैं। और न किसी अन्यपर्याय के आश्रय की अपेक्षा रखती हैं। उपयोग

का काम तो मात्र जानना देखना ही आगम में कहा है, साथ देने-लेने की बात कही भी नहीं आई। तथा जानने देखने का काम तो मात्र जानना देखना ही है। ज्ञाता दृष्टा यह उसका स्वभाव है। शुभ या अशुभ को मात्र जानना या देखना आस्रव बंध का कारण नहीं है। अपितु उसमें राग द्वेष करना ही बंध का कारण है। रागद्वेष चारित्रमोहकी पर्याय है, कषाय है और ये ही कषाय स्थिति और अनुभाग बंध कराती है। कहा भी है.....

ठिदि अणुभागा कषायदोहोंति।

अत: सिध्द है कि उपयोग कभी भी राग आदि का न तो साथ ही देता है और न ये बंध कराता है। मात्र ज्ञाता दृष्टा ही रहता है।जहाँ कहीं भी अज्ञान भाव का बंध का कारण कहा भी गया है तो वह उपचार है। वास्तविकता में तो उसके साथ रहनेवाला मिथ्यात्व राग द्वेष आदि ही बंध के कारण हैं। इसे क्षायोपशमिक अज्ञान भी इस ही मिथ्यात्वादिक के ही कारण कहा जाता है। उपरोक्त सभी प्रमाणों से सिध्द है कि शुभ अशुभ व शुध्द की विवक्षा में ज्ञान दर्शनोपयोग ग्राह्य नहीं है किन्तु अनुष्ठानात्मक परिणति ही ग्राह्य है। और वह अनुष्ठान/परिणति/वीतराग निर्विकल्प ध्यान इत्यादि चारित्र गुण की पर्याय है। ज्ञान दर्शन गुण की नहीं।

(२) समास

प्रत्येक आगम वाक्यों की विवक्षा वक्ता की इच्छा पर निर्भर करती है कि वह आगम को ध्यान में रखते हुए अपनी विवेचना किस प्रकार से सिध्द करे। शुध्दोपयोग पद की सिध्दि हमनें कर्मधारय समास की मुख्यता से की है और यही हमें अभिप्रेत है। तत्पुरुष समास से वह सिध्द नहीं हो पाता है।

१. शंका – शुध्दोपयोग कर्मधारय समास से सिध्द पद है या सप्तमी तत्पुरुष समास से - स्पष्ट कीजिये ?

समाधान– अध्यात्मिक दृष्टि से ''शुध्दः उपयोगः इति शुध्दोपयोग'' अथवा ''शुध्द अनुष्ठान मयः उपयोगः इति शुध्दोपयोगः'' अर्थात् शुध्द है अनुष्ठान मय उपयोग जिनका वह शुध्दोपयोग है। यह कर्मधारय समास से सिध्द पद है और इसे भी ब्रम्हदेव सूरि आदिने सप्तम गुणस्थान से घटित किया है।

इस समास का ऐसा अर्थ नहीं निकलना चाहिये कि शुध्द हो गया है उपयोग जिनका ऐसे अर्हंत, सिध्द का केवलज्ञान व केवलदर्शनरूप उपयोग वह शुध्दोपयोग है। ऐसा अर्थ करने पर फिर अप्रमत्तादि गुणस्थानों में शुध्दोपयोग घटित नहीं होगा। तथा वही बात स.सा./ता.वृ. ९/३२० में भी कही है कि ''यदा जीवः सहज शुध्द परिणामिक भाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य सम्यक श्रध्दान ज्ञानानुचरण पर्याय रूपेण परिणमति...(तदा सः) शुध्दात्माभिमुख परिणाम शुध्दोपयोगः''। अर्थात्- सहज शुध्द पारिणामिक भाव है जिसका ऐसा अपनी परमात्मद्रव्य के प्रति सच्चा श्रध्दान, ज्ञान, और अनुचरणमयी पर्यायरूप से परिणमित होता है तब वह शुध्दात्मा के प्रति अभिमुख परिणाम है वही शुध्दोपयोग पर्याय नाम को प्राप्त करती है। अर्थात् उसी पर्याय विशेष को ही शुध्दोपयोग कहते हैं। तात्पर्य यह निकला कि अभेद रत्नत्रयरूप जो पर्याय से परिणमित है वही परिणाम पर्याय शुध्दोपयोग है। यथा ''शुध्दः अनुष्ठानात्मक उपयोगः परिणामः पर्यायः इति शुध्दोपयोगः'' ऐसा कर्मधारय समास से सिध्द होता है। और उस शुध्दोपयोग में शुध्दात्मा ध्येय होती है। ''शुध्दोपयोगे शुध्दबुध्दैकस्वभावो निजात्मध्येये तिष्ठतितेन कारणेन शुध्द ध्येत्वाच्छुध्दावलंबनत्वाच्चशुध्दात्मस्वरूप साधकत्वा शुध्दोपयोगो घटते''।

बृ.द्र.सं.टी. २/३१७

अर्थात्- शुध्दोपयोग में शुध्द बुध्द एक स्वभाव का धारक जो स्वात्मा है सो वह ध्येय होता है । इस कारण शुध्दध्येय होने से, शुध्दात्मस्वरूप का साधक होने से शुध्दोपयोग घटित होता है।

२. शंका– सप्तमी तत्पुरुष समास से यदि शुध्दोपयोग शब्द की सिध्दि की जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान– सप्तमी तत्पुरुष समास करने पर ''शुध्देआत्मनि उपयोग: इति शुध्दोपयोगा:'' अर्थात् शुध्द आत्मा यानि द्रव्यकर्म भाव कर्म व नोकर्म से रहित सिध्द परमेष्ठी की आत्मा में ध्यान या भावनारूप उपयोग शुध्दोपयोग है । अथवा शुध्दद्रव्यार्थिक नय के व्दारा कथित शक्तिरूप से स्थित अपनी शुध्द आत्मा में सविकल्प ज्ञान दर्शन रूप उपयोग वह शुध्दोपयोग है। पर ऐसा अर्थ करने से ४,५,६, गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टियों को भी द्रव्यश्रुत के आलम्बन से विकल्पात्मक नयों की विवक्षासे अपनी शुध्द आत्मा को जानने में भी शुध्दोपयोगी मानना पड़ेगा। उक्त गुणस्थानों को आचार्यों ने सराग व सविकल्प ही कहा है और उनमें अन्यथानुपपत्ति हेतु दिया है। फिर अध्यात्मिक ग्रंथों में कथित निर्विकल्प रूप शुध्दोपयोग शब्द से तथा अप्रमत्तादि गुणस्थान से ही शुध्दोपयोग होता है इससे बाधा आयेगी या अलग सविकल्प निर्विकल्परूप से दो प्रकार का शुध्दोपयोग मानना पड़ेगा। अत: यह सिध्द है कि शुध्दोपयोग एक स्वतंत्र पर्याय है जो निर्विकल्प ध्यान रूप है। और उनमें शुध्दात्मा ध्येय होती है।

३. शंका– क्या मिश्रोपयोग भी होता है ?

समाधान– ऐसा कहीं किन्ही आचार्यों के स्पष्ट वाक्य पढ़ने में नहीं आये अपितु आगमिकदृष्टि से ''उवओगो दुवियप्पो दंसण णाणं ''। -द्र.सं.गा. ४

स व्दिविधोऽष्ट चतुर्भेद:। त.स. २/९

अर्थात्- उपयोग के दो भेद हैं, ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग । अथवा इसके क्रमश: ज्ञानोपयोग के आठ तथा दर्शनोपयोग के चार भेद, कुल मिलाकर बारह (१२) भेद होते हैं। किन्तु कहीं भी मिश्रनामक उपयोग नहीं कहा गया हैं। इसी तरह आध्यात्मिक दृष्टि से भी उपयोग के अशुभ, शुभ शुध्दोपयोग की दृष्टि से तीन भेद होते हैं किन्तु वहाँ भी कहीं मिश्रोपयोग नामक तीसरा भेद नहीं कहा है। हाँ, जहाँ कहीं भी कुछ कर्म निषेकों के अनुदय (क्षय या उपशम) को या कुछ के उदय से मिली-जुली अवस्था को या कुछ अंश में व्रत कुछ में अविरत भाव को

शुध्दात्मानुराग व शुभचारित्र को कुछ अंशों में रागाभाव तथा कुछ अंशों में राग भाव को क्षायोपशमिक ज्ञान में भी (मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ।) इस रूप भाव से युगपत् पाये जाने को मिश्रोपयोग कह दिया जाता है परंतु ऐसा कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिला। आत्मानुभाव हो जाने पर अनेक पर्यायरूप भेद भावों के साथ मिश्रता होती है (स.सा.आ. टी १७/१८) कर्म(राग) और ज्ञान (वीतराग) का एकाश्रितापना पर द्रव्य के साथ शुध्दात्मवृत्ति (परिणति) संमिलित होने से शुध्दोपयोगी चरित्र है। प्र.सा.ता.वृ. २४६.अर्हतादि भक्ति सम्पन्न जीव कदाचित् शुध्दोपयोग वाला होने पर भी राग भाव जीवित होने से शुभोपयोगीपने को नहीं छोड़ता। (का.ता.पृ.१६६) सम्यक्त्व पूर्वक शुभोपयोग से मुख्य रूप से पुण्य बंध होता हैं परन्तु परंपरा से मोक्ष भी होता है,) केवल पुण्य बंध ही नहीं होता है। (प्र.सा.ता.वृ. २५५/३४२/२७) छद्मस्थ का ज्ञान शुध्दाशुध्द है। अर्थात् केवलज्ञान की अपेक्षा अशुध्द तथा वीतराग सम्यक्त्व व चारित्र से युक्त होने के कारण शुध्द है। (स.सा.ता.वृ. ४१५) पृथकत्ववितर्क शुक्ल ध्यान में यद्यपि शुध्दात्म संवेदन करता है किन्तु जितने अंश में स्थिरता नहीं होने से अनिश्चित विकल्प होते है। (बृ.द्र.सं. टी ४८/२०३/९) जितने अंश में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान , सम्यग्चारित्र उतने में बंध नहीं, किन्तु जितने अंश में राग उतने अंश मे बंध(पु.सि.२१२/२१६) उपर्युक्त वाक्यों से ज्ञात है कि मूल में कहीं भी 'मिश्र' शब्द का प्रयोग नहीं है, मात्र हिंदी में ऐसा अर्थ किया गया है।

(३) सम्यग्दर्शन

आगमिक वीतराग सम्यग्दर्शन और आध्यत्मिक वीतराग सम्यग्दर्शन में अंतर है। क्योंकि आगमिक वीतराग सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक दृष्टि से व्यवहार ही है तथा आध्यात्मिक सम्यग्दर्शन का वर्णन आगम व अध्यात्मग्रंथों में अलग-अलग रूपसे किया गया है। आगम में सराग व वीतराग सम्यग्दर्शन की मुख्यता है, जिसमें बाह्य एवं आभ्यन्तर कारणों का वर्णन है। तथा अध्यात्म ग्रंथों में निश्चय एवं व्यवहार सम्यग्दर्शन की मुख्यता से वर्णन है।फिर भी अध्यात्म ग्रंथों में भी सराग एवं वीतराग सम्यग्दर्शन का वर्णन है। यहाँ आगमिक सराग व वीतराग सम्यग्दर्शन को तथा आध्यात्मिक सराग सम्यग्दर्शन को सविकल्प, भेद भावना रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है जो कि चौथे से छटवें गुणस्थानवर्तियों में पाया जाता है।

निश्चय (वीतराग)सम्यग्दर्शन तो वीतराग चारित्र के अविनाभावी ही है तथा उसे ही वीतराग, निर्विकल्प, अभेद रत्नत्रयात्मक ध्यान रूप निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है जो कि सातवे से आगे के गुणस्थान में पाया जाता है।

१. शंका – क्या सम्यग्दर्शन के पूर्व पाँचों लब्धियों का होना अनिवार्य है ? और क्या तभी मिथ्यात्व नष्ट होता है ?

समाधान– पंचलब्धवः उपशम सम्यक्त्वे भवन्तिः।

गो.जी./जी.प्र. ६५१ /११००/२

पांचों लब्धियां उपशम सम्यक्त्व के ग्रहण में होती है।

इति गाथा कथित लब्धि पञ्चक संज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुध्दात्माभिमुख परिणाम संज्ञेन निर्मल भावना विशेष खड्गेन पौरुषकृत्वाकर्मशत्रुं हन्तीति। (बृ.द्र.सं.टी.,पृ. १२३)

आगम भाषया दर्शनचारित्र मोहनीयोपशम क्षय संज्ञेनाध्यात्मभाषया स्वशुध्दात्मा भिमुख परिणाम संज्ञेन चं कालादि लब्धि विशेषेण मिथ्यात्वं विलयंगतम्...। द्र.सं.टी. ३७-४१ पृष्ठ १३१

सारांश यह है कि आगम भाषा से पांच लब्धियों से एवं दर्शन व चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से तथा अध्यात्म भाषासे शुध्दात्मा के अभिमुख परिणाम नामक भावना रूपी तलवार से मिथ्यात्व कर्म का विलय होता है।

२. शंका– सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?

समाधान– परमार्थ के प्रति सच्ची श्रध्दा को सम्यग्दर्शन कहते है।

३. शंका– सम्यग्दर्शन में मुख्य कितने भेद हैं ?

समाधान– सराग व वीतराग अथवा निश्चय व व्यवहार इस प्रकार आगम व अध्यात्म की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं।

४. शंका – अध्यात्म दृष्टि से सराग व व्यवहार सम्यग्दर्शन एक है। इसी प्रकार क्या वीतराग व निश्चय सम्यग्दर्शन एक है ?

समाधान– हाँ, एक है। यथा सराग सम्यक्त्वाभिधानं व्यवहार सम्यक्त्वं विज्ञेयम्.....

वीतराग चारित्राविनाभूतं वीतराग सम्यक्त्वाभिधानं निश्चय सम्यक्त्वं च ज्ञातव्यम्।

द्र.सं.टी. ४१/१४०/१२

अर्थात् अध्यात्म भाषा में सराग सम्यक्त्व को ही व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिए तथा वीतराग चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिए।

५. शंका– क्या आगम अपेक्षा से भी सराग व वीतराग सम्यक्त्व होता हैं ?

समाधान– हाँ, आगम की अपेक्षा भी सराग व वीतराग सम्यक्त्व होते हैं। यथा-

वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं च कथितं द्विधा।
विरागं क्षायिकं तत्र सराग मपरव्दयम्॥
संवेग प्रशमास्तिक्य कारुण्य व्यक्त लक्षणम्।
सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षा लक्षणं परम्॥

अमितगति श्रा., टी..६५-६६

अर्थात् वीतराग व सराग के भेद से दो प्रकार का सम्यग्दर्शन है । उनमें क्षायिक वीतराग सम्यग्दर्शन है तथा उपशम व क्षयोपशम सराग सम्यग्दर्शन है। प्रशमादि चार गुणों की अभिव्यक्ति सराग सम्यग्दर्शन हैं और उपेक्षा लक्षण वीतराग सम्यग्दर्शन है।

६. शंका– क्या आगम में कथित वीतराग सम्यग्दर्शन विषयक आचार्यों में विचार भेद है ?

समाधान– हाँ, विचार भेद है। यथा

(१) विरागं क्षायिकं तत्र (अ.ग. श्रा. ६५)-क्षायिक सम्यग्दर्शन वीतराग सम्यग्दर्शन है। सप्तानां कर्म प्रकृतीनां आत्यन्तिके उपशमे सत्यात्म विशुध्दि मात्र मितरत वीतराग सम्यक्त्वमित्युच्यते। रा.वा. १/२/३१/२२

सातों प्रकृतियों के आत्यंतिक क्षय हो जाने पर जो आत्म विशुध्दि प्राप्त होती है वह वीतराग सम्यग्दर्शन है।

रागव्दयरहितानां क्षीणमोहावरणानां वीतराग सम्यग्दर्शनम् -

भ.आ.टी. ५१/१७५ प्रशस्ताप्रशस्त दोनों प्रकार के राग से रहित क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानवर्तियों का वीतराग सम्यग्दर्शन है।

आत्मविशुध्दि मात्रमितरत्।

आत्म विशुध्दि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है। स.सि. १/२/१०

७. शंका– अध्यात्मदृष्टि से क्या आगमिक उपशम या क्षयोपशम सराग सम्यक्त्व व्यवहार ही है ?

समाधान– हाँ, देखो.....

सप्त प्रकृतीनां उपशमेन क्षयोपशमेन च सराग सम्यग्दृष्टि भूत्वा....।

पं.का./ता.वृ./१५१

तात्पर्य यह है आगम भाषा में कहा जाने वाला सराग सम्यग्दर्शन प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य लक्षण तथा

(स.सि. १/१), तत्त्वार्थश्रध्दान स्वरूप/त.सू. १/२)

परमार्थ देवशास्त्र गुरु के प्रति श्रध्दानवाले (रत्न.श्रा.२) आप्त आगम तत्त्व श्रध्दान (नि.सा. ५) छः द्रव्य, पंचास्तिकाय, नवपदार्थ श्रध्दान, स्वरूप, श्रध्दान, सराग/व्यवहार सम्यग्दर्शन ही है। एवं (पं.स. १/१५)

अथवा करणानुयोग कथित सात प्रकृतियों का औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन। तथा द्रव्यानुयोग कथित निजशुध्दात्मा उपादेय है। ऐसी रूचि रूप/भावनात्मक व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

८. शंका– सराग व वीतराग अथवा निश्चय या व्यवहार सम्यग्दर्शन में

पारस्परिक क्या संबध है ?

समाधान– व्यवहार सम्यक्त्वेन निश्चय सम्यक्त्वं साध्यत इति साध्यसाधक भाव ज्ञापनार्थ मिति। बृ. द्र. सं.टी. ४१ पृ. १४१

अर्थात् व्यवहार या सराग सम्यक्त्व रूप साधन से साध्य रूप निश्चय (या वीतराग) सम्यक्त्व साधा जाता है, यही दोनों में साध्य-साधकभाव संबंध है।

९. शंका– अध्यात्मिक वीतराग या निश्चय सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?

समाधान– शुध्दोपयोग लक्षण निश्चय रत्नत्रय भावनोत्पन्न परमाह्यदैकरूप सुखामृतं रसास्वादन मै वोपादेय मिन्द्रिय सुखादिकं च हेयमिती रुचि रूपं वीतराग चारित्राविनाभूतं वीतराग सम्यक्त्वाभिधानं निश्चय सम्यक्त्वं च ज्ञातव्यमिति ।

द्र.सं.टी. ४१/पृ.१४०

शुध्दोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आह्लाद रूप सुखामृतरस का आस्वादन ही उपादेय है। इंद्रिय जन्य सुख आदिक हेय है, ऐसी रुचि तथा जो वीतराग चारित्र के बिना नहीं होता ऐसा जो वीतराग सम्यक्त्व है, यह ही निश्चय सम्यक्त्व है।

१० शंका – सराग व वीतराग सम्यग्दर्शन किस-किस गुणस्थानों में होता है ?

समाधान– सराग सम्यग्दर्शन चौथे से छट्ठे गुणस्थान तक होता है तथा वीतराग सम्यग्दर्शन सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान से होता है । इस विषय को समयसार तात्पर्य वृति में इस प्रकार कहा है। यथा-

रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिः तर्हि चतुर्थं पंचमगुणस्थानवर्तिनः तीर्थंकर-कुमार भरत सगर - राम पांडवादयः सम्यग्दृष्टियो न भवंति? इति। तन्न मिथ्या दृष्टयापेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतिनां बंधाभावात्सरागसम्यग्दृष्टयो भवंति। कथं इति चेत्-, चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां जीवानां अनन्तानुबंधि क्रोध मानमाया लोभ मिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाण रेखादिसमानानां रागादीनामभावात्। पंचमगुणस्थानवर्तिनां पुनर्जीवानां अप्रत्याख्यान क्रोधमानमायालोभोदय जनितानां भूमि रेखादिसमानानां रागादिनामभावात्, इति पूर्वमेव भणित-मास्ते। अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरितन गुणस्थानवर्तिनां वीतराग सम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्यागृहणं सराग सम्यग्दृष्टीनां

गौणवृत्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं।
(स.सा.ता.वृ. २११२१२)

प्रश्न– रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता है, यह आपने कहा है, किन्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती तीर्थंकर कुमार, भरत, सगर, राम, पांडव आदि सम्यग्दृष्टि नहीं होना चाहिए क्योंकि उनके राग का सद्भाव होने से वे सब सरागी हैं (गृहस्थापेक्षया) ?

उत्तर– ऐसा नहीं है, मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा ४३ कर्म प्रकृतियों का अभाव हो जाने पर वे सरागसम्यग्दृष्टि हैं।

प्रश्न– किस प्रकार से वे सरागसम्यग्दृष्टि हैं ?

उत्तर– चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों के अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के उदय से होने वाला पाषाण रेखादिसदृश रागादि का अभाव होने से वे सरागसम्यग्दृष्टि हैं और पंचमगुणस्थानवर्तियों के क्रोध, मान, माया, लोभ भूमिरेखादि के समान रागादि उनके न होने से सरागसम्यग्दृष्टि हैं ऐसा कहा जा चुका है। इस (समयसार) ग्रन्थ में पंचमगुणस्थान के ऊपरवाले अर्थात् छट्ठे, सातवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागसम्यग्दृष्टियों को मुख्यरूप से ग्रहण किया गया है तथा सरागसम्यग्दृष्टियों का गौणरूप से ग्रहण है। सम्यग्दृष्टि के विवेचन के समय ऐसा सभी जगह जानना चाहिए। और भी कहा गया है, कि राग, द्वेष, मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं होते हैं, क्योंकि उनके होनेपर सम्यग्दृष्टिपना नहीं हो सकता है। इसी बात को स्पष्ट किया गया है- कि अनंतानुबंधी क्रोध,मान, माया, लोभ के उदय से होने वाले राग, द्वेष, मोह चतुर्थगुणस्थानवर्ती के नहीं होते क्योंकि केवलज्ञानादि अनंतगुण सहित परमात्मा को उपादेय मानने पर वीतरागसर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गये छह द्रव्य पंचास्तिकाय सात तत्व और नौ पदार्थों की श्रद्धारूप तथा तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषों से रहित सम्यक्त्व माना गया है, उसी प्रकार सम्यक्त्व से युक्त प्राणी के संवेग निर्वेद, निन्दा, गर्हा उपशम, भक्ति वात्सल्य अनुकम्पा ये आठ गुण होते हैं।

११. शंका– परमात्म प्रकाश में निजशुध्दात्मा उपादेयरूप निश्चय सम्यक्त्व कहा है और वह गृहस्थों को होता है, ऐसा कहा है ?

समाधान– परमात्म प्रकाश में उस प्रकरण को पूर्ण पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वह वास्तविक में व्यवहार सम्यग्दर्शन ही है।

वीतराग सम्यक्त्वं निजशुध्दात्मानुभूतिलक्षणं वीतराग चारित्राविनाभूतं तदैव निश्चयसम्यक्त्वमिति। अत्राह प्रभाकरभट्टः। निज शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चय सम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्व भवद्भिः इदानींपुनः वीतराग चारित्राविनाभूतं निश्चय सम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः कस्मादिति चेत्। निज शुद्धात्मैवोपादेयः इति रुचिरूपं निश्चय सम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थकर परमदेव भरतसगर रामपांडवादीनां विद्यते, न च तेषां वीतराग चारित्रमस्तीति परस्परविरोधः अस्ति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः। तत्र परिहारमाह। तेषों शुद्धात्मोपादेय भावनारूपं निश्चय सम्यक्त्वं विद्यते परं किन्तु चारित्र मोहोदयेन स्थिरता नास्ति व्रतप्रतिज्ञाभंगो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यन्ते। शुद्धात्मभावना च्युताः सन्तः भरतादया निर्दोषिपरमात्मनामर्हत्सिद्धानां गुण स्तववस्तुस्तवरूपस्तवनादिकं कुर्वन्ति तच्चरितपुराणादिकं च समाकर्णयन्ति तदाराधकपुरुषाणामाचार्योपाध्यायसाधूनाम् विषयकषायदुर्ध्यानवंचनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थच दानपूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभरागयोगात् सरागसम्यग्दृष्ट्यो भवन्ति। या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्व संज्ञा वीतराग चारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परंपरया साधकत्वादिति। वस्तुवृत्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः।

(प.प्र.टी. २/१७)

अथवा निज शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण वाले वीतराग चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यग्दर्शन होता है उसे ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं।

प्रश्न– यहाँ पर प्रभाकरभट्ट ही अपने गुरू श्री योगीन्द्र देवसे प्रश्न करते है कि हे गुरो। अपनी निजशुद्धात्मा ही उपादेय है. ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व होता है, ऐसा पहले कई बार आपने कहा है और अब वीतराग चारित्र के अविनाभावी सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व कह रहे हैं, अतः दोनों में पूर्वापर का विरोध है ?

दूसरा प्रश्न– निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा रूचिरूप निश्चय सम्यक्त्व गृहस्थावस्था में भी तीर्थकर परमदेव तथा भरत, सगर, राम, पांडव आदि को रहता है परन्तु उनको वीतरागचारित्र नहीं होता है, इसलिए भी विरोध है। यदि होता है ऐसा माना जाये तो उनके असंयतपना कैसे हो सकता है ?

उत्तर– उक्त महापुरूषों में शुध्दात्मा उपादेय है, ऐसी भावना रूप निश्चय सम्यक्त्व (आगमभाषा की अपेक्षा) तो है किन्तु चारित्र मोहनीय कर्म के उदय होने से स्थिरता नहीं है, जब तक महाव्रत नहीं है तब तक असंयमी कहलाते हैं। शुद्धात्मा की अखंड भावना से रहित होते हुए भरत, सगर, राम, पांडव आदि निर्दोष परमात्मा अर्हन्त, सिध्दोंके गुणस्तवन, वस्तुस्तवन रूप स्तोत्र आदि करते हैं और उनके चरित्र पुराणादि सुनते हैं। तथा उनकी आज्ञा के आराधक तो महान् पुरुष आचार्य, उपाध्याय, साधु हैं उन्हें भक्तिपूर्वक आहारदानादि करते हैं एवं उनकी पूजा करते हैं। विषय कषायरूप खोटे ध्यान को रोकने के लिए तथा संसार की स्थिति के नाश करने के लिए ऐसी शुभ क्रियायें करते हैं। इसलिए शुभराग के संबंध से सम्यग्दृष्टि हैं और इनके निश्चयसम्यक्त्व भी कहा जा सकता है क्योंकि वीतरागचारित्र के अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व का वह परम्परा से साधक है। वास्तव में विचार किया जाये तो गृहस्थावस्था में इन पुरूषों के सराग सम्यक्त्व ही है और जो सराग सम्यक्त्व है वह व्यवहार ही है, ऐसा जानो।

१२. शंका – (१) गृहस्थोंको कभी कदाचित् होने वाला निश्चय सम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यक्त्व है।

शंका (२) निज शुध्दात्मैवोपादेयः इति रुचि रूपं निश्चय सम्यक्त्वं भवतिती बहुधा व्याख्यातं पूर्वा भवद्भिः इदानीं पुनः वीतराग चारित्राविनाभूतं निश्चय सम्यक्तं व्याख्यातमिती पूर्वापर विरोधः कस्मादिति चेत्।

निज शुध्दात्मैवो पादेयः इति रूचि रूपं निश्चय सम्यक्तं गृहस्थावस्थायां, तीर्थंकर परमदेव भरत सगर राम पाण्डवादिनां विद्यते न च तेषां वीतराग चारित्रमस्थिती परस्पर विरोधः अस्ति चेत्तर्हि तेषांसयंतत्वं कथमिती पूर्वपक्षः ?

समाधान– तत्र परिहारमाह तेषां शुध्दात्मोपादेय भावना रूपं निश्चय सम्यक्तं विद्यते परं किन्तु चारित्र मोहोदयेन स्थिरता नास्ति व्रत प्रतिज्ञाभंगो भवतीति तेन कारणे ना संयता वा भण्यंते शुध्दात्माभावना च्युतः सन्तः भरतादयो निर्दोष परमात्मना महंत्सिध्दानां गुणस्तवनस्तव रूप स्तवनादिकं कुर्वन्ति तच्चरित पुराणादिकं च समाकर्णयन्ति तदाराधक पुरुषाणां आचार्योंउपाध्याय साधूनां विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चार्थं संसार स्थितितिच्छेदनार्थं च दान पूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभ राग संयोगात सम्यगदृष्टियो भवन्ति। या पुनस्तेषांसम्यक्त्वस्य

निश्चय सम्यक्त्व संज्ञा वीतराग चारित्रा विना भूतस्य निश्चय सम्यक्त्वस्य परंपरया साधकत्ववादिति। वस्तु वृत्या तु तत् सम्यक्तं सराग सम्यक्त्वाख्यं व्यवहार सम्यक्तमेवेति भावार्थः। प.प्र/टी/२/१७

उपर्युक्त टीका का सारांश यह है कि, निजशुध्दात्मा उपादेय है ऐसी रुचि या भावना रूप (सविकल्परूप) निश्चय सम्यक्त्व हैं। इसे व्यवहार ही कहते हैं। जैसे गृहस्थावस्था में तीर्थंकर परमदेव, भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि को होता है, किन्तु उन्हें वीतराग चारित्र नहीं होता है। और यदि होता है तो वे असंयत कैसे हैं। इस आशंका का समाधान यह है कि- उन्हें (गृहस्थावस्था में) चारित्र मोह के उदय में स्थिरता नहीं रहती है। व्रत या प्रतिज्ञा टूटने का उन्हें भय रहता है इसलिये वे असंयमी है।

यद्यपि उन्हें (गृहस्थ को) शुध्दात्मा उपादेय है, ऐसी रुचि या भावना या सविकल्प रूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं होता है तब पंचपरमेष्ठी की यथा योग्य भक्ति, उनके चरित्र ग्रंथों का सुनना, साधुओंकी विशेष भक्ति वैय्यावृत्ति कषायरूप दुर्ध्यान से बचने के लिए संसार स्थिति को छेदने के लिए दानपूजादि को करते हैं। इस कारण से सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं। और उनका यह सराग सम्यक्त्व निर्विकल्प वीतराग निश्चय सम्यक्त्व वीतराग चारित्र के बिना नहीं होनेवाले निश्चय सम्यक्त्वका परंपरा से साधक है। अतः भले ही उसे शुध्दात्म उपादेयरूप निश्चय सम्यक्त्व कहा जाता है। किंतु- वस्तुवृत्या तु तत्सम्यक्त्वं सराग सम्यक्त्वाख्यं व्यवहार सम्यक्त्व मेवेति भावार्थ :। (प.प्र.ता. १.२/१७) वास्तव में वह निश्चय (नामसे कहा जानेवाला) सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व नामसे कथित व्यवहार सम्यक्त्व ही है। ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए।

'' यद्यपि षड्द्रव्यपञ्चास्तिकाय सप्ततत्व नव पदार्थाः साध्यसाधक भावेन निश्चय सम्यक्त्व हेतुत्वाद् व्यहारेण सम्यक्त्वं भवति, तथापि निश्चयेन वीतराग परमानन्दैकस्वभावः शुद्धात्मापादेय इति रूचिरूप परिणाम परिणत शुद्धात्मैव निश्चय सम्यक्त्वं भवति॥'' (पं.सं.१/१५९)

१३. शंका- प.प्र. टीका गाथा-९३ में कहा था कि '' स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचि करणान्निश्चयसम्यक्त्वं भवति'' अपनी शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रूचि करने से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। किन्तु यहाँ कहते हो कि निश्चयेन वीतराग

परमानंदके स्वभावः शुद्धात्मोपादेय इति रूचि रूप परिणाम परिर्णति शुध्दात्मैव निश्चय सम्यक्त्वं भवति।'' निश्चय से एक वीतराग परमानंदैक स्वभाव वाली शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रूचि रूप परिणाम से परिणत शुद्धात्मा ही निश्चय सम्यक्त्व है। '' ऐसा कह रहे हो (दोनों में अंतर है) अर्थात् शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी रूचि से परिणत शुद्धात्मा निश्चय सम्यक्त्वं है दोनों में अंतर है।

समाधान– जब तक शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी मात्र भावनात्मक रूचि रहती है तब तक वह वास्तविकता में सराग सविकल्प रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन ही है । उसे मात्र उपचार से निश्चय सम्यग्दर्शन यह कह दिया जाता है और यह गृहस्थावस्था में भी सम्भव है, किन्तु यह वास्तविकता में निश्चय सम्यक्त्व नहीं है। देखे इसी प्रकरण में शंका समाधान नं १९ '' और जब शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी रूचि और परिणामी परिणति (ध्यान रूप लीनता वीतराग निर्विकल्प धर्म/शुक्ल) जब मुनियों के होती है तब उन्हें यह वास्तविक निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। यद्यपि यह अभेद रत्नत्रयात्मक अवस्था ही है।

(४) सम्यग्ज्ञान

१) शंका– सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ?

समाधान– संसय विमोह विब्भम विवज्जियं अप्पपर सरूवस्स।

.....गहणं सम्मण्णाणं.- द्र.सं.गा. ४२

आत्मस्वरूप और अन्य पदार्थ के स्वरूप का जो संशय, विमोह और विभ्रम/विपर्यय) रूप दोषों से रहित जानना सम्यग्ज्ञान है। अथवा

नय प्रमाण विकल्प पूर्वको जीवाद्यर्थ याथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम्

रा.वा. १/१/२/४/३

नय व प्रमाण के विकल्प पूर्वक जीवादि पदार्थ का यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान है। वह सब आगम कथित श्रुतज्ञान अध्यात्म की अपेक्षा व्यवहार ज्ञान ही है।

२. शंका – सम्यग्ज्ञान के निश्चय व व्यवहार से भी क्या भेद हैं ?

समाधान– हाँ, निश्चय सम्यग्ज्ञान व व्यवहार सम्यग्ज्ञान ऐसे सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं।

३. शंका– सम्यग्ज्ञान के कितने भेद हैं।

समाधान– सम्यग्ज्ञान के पांच भेद हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान।

४. शंका – श्रुतज्ञान किसे कहते हैं और उसके मुख्य कितने भेद हैं ?

समाधान– श्रुतज्ञानावरण क्षयोपशमान्नोइंद्रियावलम्बनाच्च..।

(द्र.सं.टी. ५/१३/१५)

तथा श्रुतज्ञान विषयोऽर्थ : श्रुतम्। (स.सि.२/२१/१७८/६)

श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो है वह श्रुतज्ञान है। अथवा श्रुतज्ञान का विषयभूत अर्थश्रुत ज्ञान है। तथा इसके आगमिक दृष्टिसे दो भेद हैं।

(१) द्रव्यश्रुत (२) भावश्रुत

५. शंका– आगमिक दृष्टि से द्रव्य व भाव श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ?

समाधान– अंगबाह्य सामायिकादिचतुर्दश प्रकीर्ण भेद द्रव्य भावात्मक श्रुतं पुद्गल द्रव्य रूपं वर्णपदवाक्यात्मकं द्रव्यश्रुतं, तच्छ्रवण समुत्पन्न श्रुतज्ञान पर्याय रूपं भावश्रुतं। गो.जी./जी.प्र. ३४८/७४४/१५

अर्थात् आचारांग आदि ग्यारहअंग, उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व और चकार से

सामायिकादि १४ प्रकीर्णक स्वरूप द्रव्यश्रुत जानना, और इनके सुनने से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान सो भाव श्रुत जानना।

पुद्गल द्रव्य स्वरूप अक्षर पदादिक रूप से द्रव्यश्रुत है और उनके सुननें से श्रुतज्ञान की पर्याय रूप जो उत्पन्न हुआ ज्ञान सो भाव भावश्रुत है।

६. शंका– क्या आगमिक दृष्टि से द्रव्यश्रुत के बल से भावश्रुत व संवेदन होता है ?

समाधान– हाँ, नयचक्र में एक क्षेपक गाथा में कहा है । यथा-दव्वसुयादो भावं तत्तो उदयं हवेइ संवेदं। तत्तो संवित्ति खलु, केवलणाणं हवे तत्तो ॥

(बृ.न.च. २८७)

अर्थात् द्रव्यश्रुत के अभ्यास से भावश्रुत होता है, और उससे बाह्य और आभ्यंतर संवेदन होता है, और उससे शुध्दात्मा की संवित्ति होती है, और उससे केवलज्ञान होता है।

७. शंका – आध्यात्मिक दृष्टि से व्यवहार सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ?

समाधान– तत्र जिन प्रणीत हेयोपादेयतत्त्व परिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम्। (नि.सा/ता.वृ. ५१) जिनप्रणीत हेयोपादेय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

८. शंका – आध्यात्मिक दृष्टि से व्यवहार सम्यग्ज्ञान के कितने भेद हैं ?

समाधान– सप्ततत्त्व नवपदार्थेषु मध्ये निश्चय नयेन स्वकीय शुध्दात्म द्रव्यं.... उपादेयः। शेषं च हेयमिति संक्षेपेण हेयोपादेय भेदेन द्विधा व्यवहार ज्ञान मिति। द्र.सं.टी. /४२/१४४/११

सात तत्त्व नव पदार्थों में निश्चय नय से अपना शुध्दात्म द्रव्य ही उपादेय है। इसके सिवाय शुध्द अशुध्द पर जीव अजीव आदि सभी हेय हैं। इस प्रकार संक्षेप से हेय तथा उपादेय भेदों से व्यवहार ज्ञान दो प्रकार है।

९. शंका – आध्यात्मिक दृष्टि से निश्चय ज्ञान किसे कहते हैं ?

समाधान– निर्विकल्प स्व संवेदन ज्ञानमेव निश्चय ज्ञानं भण्यते।

द्र.सं.टी. ४२/१४५/४

निर्विकल्पं स्वसंवेदन ज्ञान ही निश्चय ज्ञान है ।

१०. शंका– स्वसंवेदन ज्ञान के क्या सरागी व वीतरागी की अपेक्षा दो भेद हैं ?

समाधान– हाँ, पात्र भेद की अपेक्षा स्वसंवेदन ज्ञान भी दो प्रकार का है ।

(१) सराग (२) वीतराग

यथा- स्वसंवेदन ज्ञाने वीतरागी विशेषणे किमर्थमिति पूर्वपक्षः । परिहार माह विषयानुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञानं सरागमपि दृश्यते तन्निषेधार्थं मित्यभिप्रायः ।

- प.प्र. टी. १२

११. शंका – स्वसंवेदन ज्ञान में वीतराग विशेषण किस लिये जोड़ा है ?

समाधान– क्योंकि विषयानुभव रूप स्वसंवदेन ज्ञान तो सरागियों में भी देखा जाता है । अतः उस के निषेध के लिये किया है कि निर्विकल्पध्यान में स्थित मुनिजनों को उस काल में वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान ही होता है। सराग स्वसंवेदन ज्ञान नहीं।

१२. शंका– क्या वीतराग निर्विकल्प ध्यान में इच्छापूर्वक विकल्पों का अभाव है या पूर्णतः विकल्पों का अभाव है ?

समाधान– निश्चय नयेन पुनर्वीतराग निर्विकल्प समाधिकाले बहिरुपयोगो यद्यप्यनीहितवृत्त्या निरस्तस्तथापीहापूर्वके विकल्पाभावाद् गौणत्वमिति कृत्वा स्वसंवेदन ज्ञान मेव ज्ञान मुच्यते । परमात्मप्रकाश २/२९/१४९/२

निश्चय नय से वीतराग निर्विकल्प समाधि के समय यहाँ ही अनीहित दृष्टि से उपयोग में से बाह्यपदार्थों का निराकरण किया जाता है, फिर भी इच्छा पूर्वक विकल्पों का अभाव होने से गौण करके वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं।

१३. शंका– क्या निश्चय भावश्रुतज्ञानरूप वीतराग स्वसंवेदन में केवलज्ञानवत्, आत्मा प्रत्यक्ष होती है ?

समाधान– यथा कोऽपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति रात्रौ किमपि प्रदीपनेति। तथा दित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवस स्थानीय मोक्षपर्याये भगवानात्मानम् पश्यति। संसारी विवेकी जनः पुनर्निशा स्थानीय संसार पर्याये प्रदीप स्थानीयेन रागादि विकल्प रहित परम समाधिना निजात्मानं पश्यतीति। प्र.सा./ता.वृ. ३३ पृष्ठ ४७

जैसे कोई देवदत्त सूर्योदय के व्दारा दिनमें देखता है और दीपक के द्वारा रात्रिको कुछ देखता हैं । उसी प्रकार मोक्ष पर्याय में भगवान् आत्माको केवलज्ञान के द्वारा देखते हैं। संसारी विवेकी जन संसारी पर्याय में रागादि विकल्प रहित

समाधि के द्वारा निजात्मा को देखते है।

१५. शंका– निश्चय भावश्रुत ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे ?

समाधान– यद्यपि केवलज्ञानापेक्षा या रागादि विकल्परहित स्वसंवेदनरूपं भाव श्रुतज्ञानं शुध्दनिश्चयनयेन परोक्षं भण्यते तथापि इंन्द्रिय मनोजनित सविकल्प ज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षम्। तेन कारणेन आत्मा स्वसंवेदन ज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षोऽपि भवति, केवलज्ञानापेक्षयापुनः पुनः परोक्षोऽपि भवति। सर्वथा परोक्षं एवेति वक्तुं न याति। किन्तु चतुर्थकालेऽपि। केवलिनः किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयन्ति। तेऽपि दिव्य ध्वनिना भणित्वा गच्छन्ति। तथापि श्रवणकाले श्रोतृणां परोक्ष एव पश्चात्परम समाधि काले प्रत्यक्षो भवति। तथा इदानीं कालेऽपीति भावार्थ :।

यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा रागदि विकल्परहित स्वसंवेदन रूप भाव श्रुतज्ञान शुध्द निश्चय से परोक्ष कहा जाता है तथापि इन्द्रिय मनोजनित सविकल्प ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष है। इस प्रकार आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष होता हुआ भी केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष है। सर्वथा परोक्ष ही है ऐसा कहना नहीं बनता। चतुर्थकाल में क्या केवली भगवान् आत्मा को हाथ में लेकर दिखाते हैं। वे भी तो दिव्यध्वनि के द्वारा कहकर चले ही जाते हैं। फिर भी सुनने के समय जो श्रोता के लिए परोक्ष है, वही पीछे परम समाधि काल में प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार वर्तमान काल में भी समझना।

स्वसंवेदन ज्ञानरूपेन यदात्म ग्राहकं भावश्रुतं तत्प्रत्यक्षं यत्पुनर्व्दादशांग चतुर्दशपूर्व रूप परमागम संज्ञ तच्च मूर्तामूर्तोय पारिच्छित्तिविषये व्याप्तिज्ञानं रूपेण परोक्षमपि केवलज्ञान सदृशमित्यभिप्रायः।

पं.सा./ता.वृ./९९/१५९

स्वसंवेदन ज्ञानरूप से आत्मग्राहकं भाव श्रुतज्ञान है । वह परोक्ष है ।और जो बारह अंग चौदह पूर्व रूप परमागम नामवाला ज्ञान है वह मूर्त, अमूर्त व उभयरूप अर्थों के जानने के विषय में अनुमान ज्ञान के रूप में परोक्ष होता हुआ भी केवलज्ञान सदृश है।

१५. शंका– क्या निश्चय भावश्रुत ज्ञान (वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन रूप) भी होता है ?

समाधान– हां, अध्यात्मदृष्टिसे निश्चय भावश्रुत ज्ञान भी होता है। यथा-

निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुध्दात्माभिमुख सुख संवित्तिस्वरुपं स्वयंवित्त्याकरेण सविकल्पमपीन्द्रियमनोजनितरागादिविकल्प जाल रहित्त वेन निर्विकल्पम्। अभेद नयेन तदेवात्मशब्दवाच्यं वीतरागं सम्यक् चारित्राविनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि संसारिणां क्षायिक ज्ञानाभावत् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते।

(द्र.स.टी. ५, पृष्ठ १३, पंक्ति ९)

निश्चय भावश्रुत ज्ञान है वह शुध्दात्माभिमुख स्व संविति स्वरूप है। परंतु इंद्रिय मनोजनित रागादिविकल्प जाल से रहित होने के कारण निर्विकल्प है। अभेद नयसे वही ज्ञान आत्म शब्द से कहा जाता है तथा वह वीतराग सम्यग्चारित्र के बिना नही होता है। वह ज्ञान यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है। तथापि संसारियोंको क्षायिक ज्ञान की प्राप्ति न होने से क्षायोपशमिक होने पर भी प्रत्यक्ष कहलाता है।

१६. शंका– व्यवहारज्ञान व निश्चय ज्ञान में साध्यसाधक भाव कैसे घटित होता है ?

समाधान– विकल्परूप व्यवहार ज्ञानेन साध्यम निश्चय ज्ञानम्। अभेद रत्नत्रयात्मकं यद्भाव श्रुतं तदेवोपादेय भूत परमात्मतत्त्व साधकत्वा निश्चयेनोपादेयं तत्साधकं बहिरंग तु व्यवहारे णेति तात्पर्यं।

पं.का. ता.वृ. ४३/८६ (गा. २)

अभेद रत्नत्रयात्मक जो भाव श्रुतज्ञान है वही उपादेय भूत परमात्मतत्त्वका साधक होने से निश्चयसे उपादेय है और उसका साधक बहिरंग श्रुतज्ञान व्यवहार उपादेय है, ऐसा तात्पर्य है।

१७. शंका– स्व संवेदन ज्ञान के पर्यायवाची नाम क्या-क्या है ?

समाधान– चेतनानुभूत्युप लब्धि वेदना नामेकार्थत्वात्। पं.का./ता.वृ. ३९/७९

चेतना, अनुभव, उपलब्धि और वेदना एकार्थवाची है।

स्वसंवेदन.....आत्मानुभव.. त.अ. १६१

स्वसंवदेन और आत्मानुभव एकार्थवाची है।

१८. शंका– क्या श्रुतज्ञान लब्धि व भावना रूप भी होता है।

समाधान– सुद्णाणं पुण णाणी भणन्ति लध्दी य भावणा चेव।
उपओगणय वियप्पं णाणेण वत्थु अत्थस्स॥ पं.का. /क्षे. ४३-२/८६
ज्ञानी को श्रुतज्ञान लब्धि व भावना रूप से दो-दो प्रकार का होता है। अथवा प्रमाण व नय के भेद से दो प्रकार का होता है।

१९. शंका – क्या निर्विकल्प स्वसंवदेन ज्ञान मात्र मुनियों को ही होता है ?
समाधान– वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत् स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्व संवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवंराम॥ त.अ.१६१
स्वसंवेदन आत्माके उस साक्षात् दर्शनरूप अनुभव का नाम है। जिसमें योगी आत्मा स्वयं ही ज्ञेय तथा ज्ञायक भाव को प्राप्त होती है।

२०. शंका– प्रवचनसार में कहा है कि जो गृहस्थ व मुनि स्व संवेदनज्ञान से अपनी आत्मा ध्याता है उसकी मोह ग्रंथि नष्ट हो जाती है ? तो क्या गृहस्थ के भी ध्यान होता है ?
समाधान– हाँ, ऐसा कहा है कि-
ध्यायति यः कर्ता। कम्। निजात्मानम्। किंकृत्वा। पूर्वं - स्वसंवेदन ज्ञानेन ज्ञात्वा।....पुनरपि. कथंभूताः साकारः सविकल्पो गृहस्थः अनाकारोनिर्विकल्पस्तपोधनः।
यः एवं गुण विशिष्टः क्षपयति स मोह दुर्ग्रन्थिम्॥
प्र.सा./ता.वृ. २/१०२ पृष्ठ २३६
जो गुणों से युक्त सविकल्प गृहस्थ या निर्विकल्प तपोधन (मुनि) स्वसंवदेन ज्ञान से जानकर अपनी आत्मा को ध्याता है। उसकी मोह ग्रंथि नष्ट हो जाती है। यह स्पष्ट बात कही है कि सविकल्प गृहस्थ और निर्विकल्प मुनि स्वसंवेदनज्ञान से जानकर अपनी आत्मा को ध्याता है यानी सविकल्प गृहस्थ सराग रूप से सविकल्प ही अपनी आत्मा को संविकल्प। सराग धर्म ध्यान से ही निर्विकल्प मुनि (वीतराग) निर्विकल्प स्वसंवेदन से ही अपनी आत्मा का वीतराग निर्विकल्प धर्म ध्यान से ही ध्यायेगा तभी उसकी मोह ग्रंथि नष्ट होगी। तात्पर्य यह है कि गृहस्थों को सविकल्प सराग स्वसंवेदन तथा सराग सविकल्प व्यवहार धर्म-ध्यान होता है। और अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती मुनियों को वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान तथा वीतराग निर्विकल्प निश्चय धर्म ध्यान होता है। सविस्तृत

(५) सम्यग्चारित्र

सम्यग्दर्शन गुण ही एक ऐसा गुण है कि जिसके होने पर सभी गुण सम्यकपने को प्राप्त हो जाते हैं, तथा जिसके न होने पर सभी गुण मिथ्यापने को प्राप्त होते हैं । अत: सम्यग्दर्शन के होते ही अनंतानुबंधी कषायों के अभाव से होनेवाले बाह्य आभ्यंतर दोनों प्रकार से सम्यक्त्वाचरण चारित्र प्राप्त होता है किन्तु वह चरणानुयोग व्दारा कथित सकल या विकल रूप नहीं है तथा करणानुयोग व्दारा कथित औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव रूप नहीं है तथा अध्यात्म ग्रंथों में कथित जब साधन रूप व्यवहार चारित्र भी नहीं है तो फिर साध्य रूप निश्चय या वीतराग चारित्र कैसे हो जाता है, अर्थात् नहीं होता हैं । तथा कषायों की वासना काल में भी यह कोई अंतर नहीं डालता है।

१. शंका – सम्यक् चारित्र किसे कहते हैं ?

समाधान – चरतिय्राति तेन हित प्राप्ति अहित निवारणं चेति चारित्रम्। चर्यते सेव्यते सज्जनै रिति वा चारित्रं सामायिकादिकम्। भ.आ. वि. ८/४१/११

जिससे हित की प्राप्ति और अहित का परिहार होता है उसे चारित्र कहते हैं। अथवा सज्जन जिसका आचरण करते है उसको चारित्र कहते हैं। जिसके सामायिकादि भेद हैं।

२. शंका– चारित्र के कितने भेद हैं।

समाधान– सामान्य से चारित्र मोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से होने वाली आत्म विशुध्दि की दृष्टि से चारित्र एक है। बाह्य और आभ्यन्तर की निवृत्ति अथवा व्यवहार निश्चय की अपेक्षा से दो प्रकार का है। अथवा प्राणिसंयम व इन्द्रिय संयम की अपेक्षा से दो प्रकार का है । औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। अथवा उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य विशुध्दि के भेद से तीन प्रकार का है। तथा छद्मस्थों का सराग व वीतराग तथा केवलियों का संयोग व अयोग इस तरह चार प्रकार का है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुध्दि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात के भेद से पांच प्रकार का है। इसी तरह विविध निवृत्ति रूप परिणामों की दृष्टि से संख्यात् असंख्यात और अनंत विकल्प रूप होता है। जै. सि. को. २/२८२

३. शंका– व्यवहार चारित्र किसे कहते हैं ?

समाधान– असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्तीय जाण चारित्तं।- द्र.सं. ४५
अशुभ कार्यों से निवृत्ति होना और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति होना व्यवहार चारित्र है। हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुन सेवा परिग्रहाभ्यां च। पाप प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रं। (र.श्रा. ४५) - हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन व परिग्रह इन पांचों पापों की प्रणालियों से विरक्त रहना व्यवहार चारित्र है। णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वह णिच्चं पडिकम्मदियो य। णिच्चं आलोचेयह सो हु चारित्तं हवह चेसा। (स.सा. ३८६) - जो सदा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना करता है, वह आत्मा ही वास्तव में व्यवहार सकल चारित्र है।

४. शंका – सराग चारित्र किसे कहते हैं ?

समाधान – मूलुत्तर समणण्णुणा धारण कहणं च पंच आयारो।
सो ही तहव सणिट्ठा। सराग चारित्रा हवह एवं॥ वृ.न.च./३३४
जो श्रमण मूल व उत्तरगुणों को धारण करता है तथा पंचाचारों का कथन करता है और आठ प्रकार की शुध्दियों में निष्ठ रहता है, वह उसका सराग चारित्र है।

५. शंका – क्या व्यवहार चारित्र व सराग चारित्र एकार्थवाची हैं ?

समाधान– हाँ, एकार्थवाची हैं। यथा-

शुध्दात्म भावना सहकारि भूतं किमपि प्रासुकाहार ज्ञानोपकरणादिकं गृहणातीत्यपवादो व्यवहार नय एक देश परित्यागस्तथा चापहृतसंयमः सराग चारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थः। प्र.सा. /ता.वृ. ३१५/१० गा. २३०
शुध्दात्मभावना के सहकारी भूत जो कुछ प्रासुक आहार या ज्ञानादि उपकरणों को ग्रहण करता है, वह अपवाद (मार्ग) है। व्यवहार या व्यवहार चारित्र, एकदेश परित्याग, अपहृत संयम, सराग चारित्र या शुभोपयोग कहलाता है। यह सब एकार्थवाची हैं।

६. शंका– यह सकल चारित्र करणानुयोग की अपेक्षा से कितने प्रकार का होता है ?

समाधान– सयल चारित्तं तिविह खओव समियं ओवसमियं खाइयं चेदि
धा.पु. ६/१, ६-८, १४/२८१/१
सकलचारित्र तीन प्रकार का होता है

(१) क्षायोपशमिक (२) औपशमिक (३) क्षायिक /अथवा सराग (व्यवहार) तथा वीतराग (निश्चय)

७. शंका– क्या बाह्य एवं आभ्यंतर दोनों चारित्र सराग चारित्र ही हैं ?

समाधान– हाँ, दोनों सराग चारित्र ही हैं। यथा शुभोपयोग लक्षणं सराग चारित्राभिधानं भवति। तत्र योऽसौ बर्हिविषयें पंचेन्द्रिय विषयादि परित्याग: स उपचरिता.. सदभूत व्यवहारेण, यश्चाभ्यन्तरे रागादि परिहार: स पुनरशुध्द निश्चयेनेति नय विभागो ज्ञातव्य:। एवं निश्चय चारित्र साधकं व्यवहार चारित्रं व्याख्यातमिति। बृ.द्र.सं.टी ४५/१५५/४

शुभोपयोग लक्षण वाला व्यवहार चारित्र होता है। वहाँ बाह्य विषयों में जो पांचों इन्द्रियों के विषयादि का त्याग है। वह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से चारित्र है और जो अंतरंग में रागादि का त्याग है वह अशुध्द निश्चय नय से चारित्र है। इस तरह नय विभाग जानना चाहिए।

८. शंका– निश्चय चारित्र किसे कहते हैं ?

समाधान– (१) बहिरब्भंतर किरियारोहो भव कारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्त तं परमं सम्म चारित्तं ॥ द्र.सं. ४६

ज्ञानी जीवों के जो संसार के कारणों को नष्ट करने के लिए बाह्य और आभ्यंतर क्रियाओं का निरोध होता है वह उत्कृष्ट सम्यक् चारित्र है।

१) चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणों परिणामो अप्पणो हु सु समो ॥
प्र.सा. ७

चारित्र वास्तव में धर्म है। जो धर्म है वह साम्य है। साम्य मोह क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम है।

२) स्वरूपे चरणं चारित्रं स्व समय प्रवृत्तिरित्यर्थ:।
तदेव वस्तु वस्तु स्वाभावत्त्वाध्दर्म:। प्र.सा. ता. वृ. ७

स्वरूप में चरण करना स्व स्वरूपाचरण चारित्र है। स्वसमय में प्रवृत्ति करना इसका अर्थ है। यही (आत्म) वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है। स्वस्वरूपाविचल स्थित रुपं सहज निश्चय चारित्रम् (नि.सा. /ता.वृ/५५) निजस्वरूप में अविचल स्थित रूप सहज निश्चय चारित्र है।

९. **शंका**–निश्चय चारित्र, निश्चय नय, और शुध्दोपयोग क्या एकार्थवाची हैं ?
समाधान– हाँ, एकार्थवाची हैं- यथा
शुध्दात्मनः सकाशादन्यद्बाह्याभ्यंतर परिग्रह रूपं सर्वं त्याज्य मित्युत्सर्गो निश्चयनयः, सर्व परित्यागः परमोपेक्षासयंमो वीतराग चारित्रं शुध्दोपयोग इति यावदेकार्थः। प्र. सा./ता.वृ./२३०/३१५/८
शुध्दात्मा के अतिरिक्त अन्य बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहरूप पदार्थों का त्याग करना उत्सर्ग मार्ग है। उसे ही निश्चय नय, सर्वपरित्याग, परमोपेक्षासंयम वीतराग चारित्र व शुध्दोपयोग कहते हैं। ये सभी एकार्थवाची हैं।

१०. **शंका**– निश्चय व्यवहार चारित्र में, व सराग वीतराग चारित्र में तथा शुभोपयोग शुध्दोपयोग में पारस्परिक क्या संबंध हैं ?
समाधान– व्यवहार चारित्रेण साध्यं निश्चय चारित्रं। द्र.सं. (उत्थानिका) ४६
वीतराग चारित्रस्य साधक सराग चारित्रं। द्र.सं.(उत्थानिका) गा. ४५
पारम्पर्येण शुध्दोपयोग साधक.....शुभोपयोगः द्र.सं.टी. ३४
अर्थात् व्यवहार चारित्र, सरागचारित्र व शुभोपयोग साधक है, निश्चय चारित्र, वीतचारित्र व शुध्दोपयोग का ये सभी साध्य रूप हैं। अतः इनका परस्पर साध्यसाधक संबंध है।

११. **शंका**– देश संयम किसे कहते हैं, तथा उसके पर्यायवाची नाम कौन-कौन से हैं ?
समाधान– चरणानुयोग की अपेक्षा जो वर्णन रत्नकरण्ड श्रावकाचार में है वह इस प्रकार है।
अभिसंधिकृताविरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति।..... र.श्रा. ८६
पांचों पापों व इन्द्रियविषयों का प्रतिज्ञापूर्वक किया गया त्याग व्रत कहलाता है। तथा उन पापों के एकदेश त्याग को देशव्रत कहते हैं । करणानुयोग की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के हो जाने के पश्चात् जो देशचारित्रघाति अप्रत्याख्यान कषाय के अभाव से हो देशचारित्र होता है।

१२. शंका– क्या चतुर्थगुणस्थान में भी कोई चारित्र होता है।

समाधान– हाँ, होता है, यथा-

जिण णाण दिट्ठी सुध्दं पढमं सम्मत्तचरण चारित्रं।
एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत दोस संकाई
परिहरि सम्मत्त मला जिण भणिया तिविह जोएणा॥
णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढ दिट्ठीय।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल पहावणाये त अट्ठ।
तं चेव गुण विशुध्दि जिण सम्मतं सुमुक्त ठाणायं।
जं चरइ णाण जुत्तं पढमं सम्मत्त चरण चारित्रं॥
सम्मत्तचरण सुध्दा।..... चा.पा.,गा. ५-९

सर्वज्ञ देव के ज्ञान और दर्शन से शुध्द सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। ऐसा जानकर हे भव्य जीवों। जिनेन्द्र भगवान् के व्दारा कहे हुए तथा सम्यक्त्व में मल उत्पन्न करने वाले शंका आदि मिथ्यात्व के दोषों का तीनों योगों से परित्याग करो। (१) नि:शंकित (२) नि:कांक्षित (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढदृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य (८) प्रभावना ये आठ सम्यक्त्व के गुण हैं।

नि:शंकादि गुणों से विशुध्द वह सम्यक्त्व ही जिन सम्यक्त्व कहलाता है तथा जिन सम्यक्त्व ही उत्तम मोक्ष रूप स्थान की प्राप्ति के लिए निमित्त भूत है। ज्ञान सहित जिन सम्यक्त्व का जो मुनि आचरण करते हैं वह पहला सम्यक्त्व चरण नामक चारित्र है।

जो सम्यक्त्व चरण से शुध्द है।

१३. शंका– सम्यक्त्वाचरण चारित्र देशचारित्र है या सकलचारित्र ?

समाधान– सम्यक्त्वाचरण चारित्र न तो सकल चारित्र ही है और न ही वह देशचारित्र है। क्यों कि दोनों के अभाव में भी वह होता है ?

१४. शंका– प्राय: आचार्यों ने अष्टपाहुड के अलावा चारित्र के मात्र सकल विकल यें दो ही भेद गिनाये हैं । सम्यक्त्वाचरण नामक तीन क्यों नहीं गिनाये ?

समाधान– चारित्र संज्ञा को प्राप्त होने वाला तो मात्र (पांच) सकल संयम ही है। फिर भी एकदेश चारित्र को भी देशचारित्र कह दिया जाता है किन्तु सम्यक्त्वाचरण

में तो एक देश भी प्रतिपरक पापों का त्याग नहीं है तथा करणानुयोग की अपेक्षा औपशमिक, क्षयोपशमिक तथा क्षायिक चारित्र भावों में कहीं भी सम्यक्त्वाचरण चारित्र नामक चारित्र नहीं गिनाया है। अतः वह मात्र सम्यक्त्व के आठ अंग रूप आचरण को बनाये रखता है इसलिए उपचार से चारित्र कह दिया जाता है किन्तु करणानुयोग चरणानुयोग की दृष्टि में वह चारित्र संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है।

१५. शंका–सम्यक्त्वाचरण चारित्र को क्या स्वरूपाचरण चारित्र कह सकते हैं ?
समाधान– नहीं, ऐसा किसी भी आचार्य प्रणीत आगम में नहीं कहा, तो फिर हम ऐसे आगम विहीन वाक्य को क्यों कहें, क्योंकि सम्यक्त्वाचरण चारित्र सराग नामक व्यवहार चारित्र है। जबकि स्वरूपाचरण वीतराग एवं निश्चय चारित्र है। यथा

स्वरूप विश्रांति लक्षणे परम वीतराग चारित्रे। नि.सा./ता.वृ. १५२
स्वरूप में विश्राति सो ही परमवीतराग चारित्र है।

१६. शंका– किन्तु अन्य जगह विद्वानों ने तो गिनाया है ?
समाधान– पं. राजमलं जी ने पंचाध्यायी में ऐसा कह दिया है अतः उसके अध्येताओं में ऐसी मान्यता आ गई। पर जैनाचार्य प्रणीत आगम ग्रंथों में ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिला। अतः वह मान्य नहीं है।

१७. शंका – अनंतानुबंधी कषाय चारित्र मोह की प्रकृति है अतः उसके अभाव से क्या मात्र बाह्य चारित्र ही होता है ?
समाधान– सम्यक्त्व के आठ अंग रूप बाह्य आचरण भी होता है (देखें शंका नं. २) तथा इसके साथ आभ्यंतर में जो निवृत्ति रूप विशुध्दि अंश है ऐसा आभ्यंतर सम्यक्त्वाचरण चारित्र भी होता है। किन्तु वह भी निश्चय से सराग ही है। क्योंकि पूर्व में देखे चुके हैं कि बाह्य एवं आभ्यंतर चारित्र को सराग व व्यवहार चारित्र ही कहते हैं। (देखो शंका नं. ७) इसके होनें पर शुध्द वीतराग चारित्र को पानें का बारंबार भाव तो होता है जो कि परंपरासे निश्चय का साधक वा कारण है।

शंका – ये नां शेन सु दृष्टिस्तेनां शेनास्य बंधनं नास्ति।
ये नां शेन ज्ञानं, बंधनं नास्ति। २१३

ये नां शेन चरित्रं बंधनं नास्ति ।
ये नां शेन तु रागस्ते नांशेनास्य बंधनं नास्ति। २१४ (पु. सि. २१३-२१४)
उपर्युक्त गाथानुसार जितने अंश में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र है उतने अंश में बंध नहीं होता है तथा जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध होता है। अतः अविरत सम्यग्दृष्टि को भी मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी राग के अभाव में होनेवाले सम्यक्त्वाचरण रूप चारित्र संबंध नहीं होता है क्या ?

समाधान– यह सत्य है कि जितने अंश में रागादि का अभाव निवृत्ति होती है तथा इसी के बल से ही ४१ प्रकृतियों का संवर होता है उतने अंश में बंध नहीं होता है किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि उतने अंश में उसके शुध्दोपयोग या वीतराग या निश्चय चारित्र होता है। क्योंकि यदि उतने अंश में वीतराग निश्चय चारित्ररूप शुध्दोपयोग माना जाये तो फिर वह साधन के बिना भी साध्य सिध्द हो गया और यदि यह संभव रहा तो फिर साधन का जिन उपदेश व्यर्थ ठहरता है। ध्यान रूप शुध्दोपयोग फिर स्थाई मानना पड़ेगा। क्योंकि मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय का अभाव दीर्घकाल भी रह सकता है, पर निश्चय ध्यान उतने समय तक नहीं रह सकता है। ध्यान की सीमा अन्तर्मुहूर्त ही है।

१९. शंका– ऐसा क्या कारण है कि उक्त निश्चय ध्यान अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में नहीं हो सकता है ? और ऐसा क्या कारण है कि अप्रमत्तादि (सप्तम) गुणस्थानवर्ती मुनि यों को वह ध्यान हो सकता है ?

समाधान– इसका मुख्य कारण अप्रत्याख्यान, और प्रत्याख्यान कषाय सर्वघाति है जो निश्चय एवं व्यवहार दोनों प्रकार के सकल चारित्र का पूर्ण रूप से घात करती है। संज्वलन कषाय देशघाती है । यह सकल संयम का तो घात नहीं करती है किन्तु इसका तीव्रोदय वीतराग निर्विकल्प चारित्र, निश्चय चारित्र अथवा शुध्दोपयोग दशा का घात करती है । इसलिए संज्वलन के तीव्रोदय में वीतराग निर्विकल्प चारित्र नहीं हो सकते हैं। किन्तु जब वह कषाय मंद होती है। तभी अप्रमतादि गुणस्थान होते हैं तभी उक्त निश्चय चारित्र, ध्यान आदि होते है। इन गुणस्थानों का समय मात्र अन्तर्मुहूर्त है तथा वीतराग निर्विकल्प ध्यान आदि का भी काल अन्तर्मुहूर्त है।

२०. शंका– सम्यग्दर्शन के पश्चात् अविरत सम्यग्दृष्टि के चारित्र गुण की पर्याय

क्या मिथ्यारूप ही रहती है या फिर सम्यक् रूप हो जाती है ?

समाधान– नहि चारित्र मोहोदय मात्रात् भवत् चारित्रं दर्शनं चारित्र मोहोदयं जनितात् अचारित्रात् अभिन्नं एवं इति साधयितुं शक्यं, सर्वत्र कारण भेदस्य फला भेद कत्वा प्रसक्ते:। श्लोकवार्तिक १/१/१०५

अर्थात् केवल चारित्र मोह के उदय से उपजने वाले असंयत सम्यक्त्वी के चारित्र को दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय दोनों के उदय से उपजने वाले अचारित्र से अभिन्न ही हैं ऐसा सिध्द करना शक्य नहीं है। क्योंकि सर्वत्र भिन्न-भिन्न कारणों से होने वाले कार्यों को अभेद कहने का प्रसंग आयेगा। अत: यह सत्य है, वह अचारित्र (चारित्र गुण के अभाव) रूप या मिथ्याचारित्र रूप नहीं है। इसीलिये जैनाचार्यों ने उसे सम्यक्त्वाचरण चारित्र यह संज्ञा दी है ।

२१. शंका– सम्यक्त्वाचरण चारित्र को क्या असंयम चारित्र या स्वरूपाचरण चारित्र कह सकते हैं ?

समाधान– नहीं, क्योंकि असंयम चारित्र का वर्णन किसी भी आगम व अध्यात्म ग्रंथों में नहीं आया है। स्वरूपाचरण चारित्र के विषय में आप पूर्व में देख चुके हैं कि वह सकल संयमी मुनिजनों को अप्रमत्त गुणस्थान में निर्विकल्प निश्चय धर्म-ध्यान की अवस्था में ही होता है। नीचे के गुणस्थानों में नहीं होता है।

अथवा उसका वर्णन पंचाध्यायी या उनसे प्रभावित विद्वानों द्वारा वर्णित है किन्तु कहीं भी निग्रंथाचार्य व्दारा प्रणीत आगम में उसका कहीं प्रमाण न मिलने के कारण उसे यहाँ मान्य नहीं किया गया है।

(६) वासनाकाल व शुध्दोपयोग

कषायों की वासना एक प्रकार से कषाय ही है कि जिसको काल में आत्म विशुद्धि संभव नहीं है, जिस कषाय की जितने काल तक वासना रहती है उतने समय तक व्यवहार चारित्र सम्यक् प्रकार से निरतिचार पालन नही हो सकता है। किन्तु यह आवश्यक ही नहीं है कि वासना निरंतर बनी ही रहे । साम्परायिक जीवों का ऐसा भी समय हो सकता है कि जिसमें वासना दीर्घ काल तक नहीं भी रहती है। अथवा वह शुध्दोपयोग रूप वीतराग चारित्र से भी अधिक समय तक वह बनी रह सकती है। अत: उतने काल को क्या कहोगे, यही कि इस काल में शुध्दोपयोग नहीं होता है । इसे ही यहाँ वर्णित किया गया है।

१. शंका– कषायों की वासना किसे कहते हैं ?

समाधान– उदयाभावेऽपि तत्संस्कार कालो वासना काल: ।

गो.जी. टी. ४६/४७/१०

अर्थात् उदय का अभाव होते हुए भी कषायों का संस्कार जितने काल तक रहे उसको वासना कहते हैं।

२. शंका– कषाय का निरंतर उदय कितने समय तक रहता है ?

समाधान – कसायाणामुदयस्स अन्तोमुहुत्तादो उवरि णिच्चएण विणासो होदि न्ति गुरुवदेसा। ध. ४/१, ५, २५४/४४७/३

अर्थात् कषायों के उदय का अन्तर्मुहूर्त से ऊपर निश्चय से विनाश होता है, ऐसा गुरू का उपदेश है। तात्पर्य यह है कि मानलो किसी कारण वशात् राग-रूप या द्वेषरूप अवस्था बन जाये तो जितने समय तक वह संस्कार बना रहता है। उसे वासना काल कहते है। जैसे -राम को लक्ष्मण के शव से मोह/राग छ: माह तक रहा या बलराम को कृष्ण के शव से मोह/राग छ: माह तक रहा बाद में मोह टूटा । अत: उक्त कषाय का वह वासना काल है।

३. शंका– किन-किन कषाय की उत्कृष्ट वासना काल कितना-कितना है ?

समाधान– अनंतानुबंधी कषाय की वासना संख्यात, असंख्यात तथा अनंत भव है। *अप्रत्याख्यान कषाय की वासना छ: माह है।*

प्रत्याख्यान कषाय की वासना १५ दिन है।

संज्वलन कषाय की वासना अन्तर्मुहूर्त है।

४. शंका– वासना काल इतना रहना ही क्या सभी का आवश्यक है ? वासना काल में क्या शुध्दोपयोग होता है ? और वासना काल में यदि शुध्दोपयोग नहीं हुआ तो क्या वे कषाय निम्नकषायों को प्राप्त हो जाती हैं ?

समाधान– वासना काल की ये उत्कृष्ट अवधि बतलाई गई है कि यदि अधिक से अधिक समय तक रहे तो उक्त समय प्रमाण तक ही रहती है । इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी की इतनी अवधि रहना ही चाहिये। अपितु इससे कम भी हो सकती है। वासना काल कषाय के संस्कार का काल है । वह विशुध्दि का काल नहीं है । अत: उस काल में शुध्दोपयोग नहीं होता है। - हाँ, इतना जरूर है कि यदि उतने काल में वासना नहीं छूटी तो कषाय स्थान निम्न हो जाते हैं।

५. शंका– तो क्या वासना का अभाव शुध्दोपयोग से होता है ?

समाधान– नहीं । यदि वासना का अभाव शुध्दोपयोग से माना जाय तो फिर मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान में भी कषाय की जघन्य वासना अन्तर्मुहूर्त की भी होती है तो उसका अभाव भी शुध्दोपयोग से मानना पड़ेगा। अत: वासना का अभाव शुध्दोपयोग से नहीं अपितु तत् जन्य संस्कारों का अभाव अपने विवेक से होता है । और विवेक के अभाव में वह वासना बनी रहती है और अवधि से अधिक होने पर वह निम्न कषायों को प्राप्त हो जाती है।

६. शंका– वासना से वासित व्यक्ति की क्या भाव परिणति होती है ?

समाधान– शरीरादौशुचि स्थिरात्मीयादि ज्ञानान्य विद्यास्तासामभ्यास:। पुन: पुन: प्रवृत्तिस्तेन जनिता: संस्कारा वासनास्तै: कृत्वा। (समाधिशतक टी ३७)

अर्थात्- शरीरादि को शुचि (शुध्द) स्थिर और आत्मीय अपना) मानना अविद्यारूप अज्ञान है, उसके पुन: पुन: प्रवृत्तिरूप अभ्यास से उत्पन्न संस्कारो को वासना कहते है। कषायों की वासना काल में व्यक्ति की ऐसी ही परिणति होती है।

७. शंका– प्रवचनसार की १४ वी गाथा के ४ विशेषण पृथक् पृथक् शुध्दोपयोग के लक्षण को सिध्द करते हैं क्या। सुविदितपयत्थ सुत्रो विशेषण क्या चतुर्थ गुणस्थान से लागू होता है ? क्या इससे चतुर्थ गुणस्थान में होने वाला भेद

(७) भावना

भावना भी आगमिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से दो प्रकार की है।

(१) आगमिक भावना का अर्थ है कि जिसे बार-बार भाया जाता है उसे भावना कहा है।

(२) अध्यात्मिक भावना- सराग व वीतराग के भेद से दो प्रकार की है। सराग भावना आगमिक अर्थवत् ही है तथा इसे व्यवहार भावना में संग्रहीत किया गया है।

वीतराग भावना- का अर्थ वीतराग निर्विकल्प धर्म-शुक्ल ध्यान है जो शुध्दोपयोग के अर्थ में प्रयुक्त होती है यह एक मात्र अप्रमत्त मुनियों के ही पायी जाती है।

१. शंका – भावना किसे कहते हैं ?

समाधान–ज्ञातेर्थे पुनः पुनः चिन्तनं भावना । पं.का/ता.वृ. ४३

ज्ञात अर्थ (पदार्थों) में जो बार बार भायी जाये उसे भावना कहते हैं।आचार्य अकलंक देव ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में भावना की परिभाषा इस प्रकार से दी है- वीर्यान्तराय क्षयोपशमचारित्र मोहोपशम क्षयोपशमांगोपांग नामत्वलाभापेक्षेणाऽऽत्मनाभाव्यन्ते ताः इति भावनाः। - रा. वा. ७, सू. ३

अर्थात् वीर्यान्तराय के क्षयोपशम के साथ चारित्र मोहनीय का उपशम तथा क्षयोपशम और आंगोपांग नाम कर्म के लाभ की अपेक्षा जो आत्मा के व्दारा भायी जाती है, वे भावनाएँ हैं। अप्राप्ति की प्राप्ति के लिये जिसे बार-बार भाया जाता है उसे भावना कहते है।

२. शंका – भावना कितने प्रकार की होती हैं ?

समाधान– भावना अनेक प्रकार की होती हैं।

३. शंका– भावना के भांने वाले कितने प्रकार के होते हैं ?

समाधान– भावना के भांने वाले भी यद्यपि अनेक प्रकार के होते हैं फिर भी उनके (१) सरागी (२) वीतरागी- ये मुख्य दो भेद हैं।

४. शंका– सरागी व वीतरागी जीवों के गुणस्थानमें घटित कीजिये ?

समाधान– चतुर्थगुणस्थानवर्ति सरागः

पंचम गुणस्थानां.....सरागः षट्गुणस्थान....सरागः

अप्रमत्तादि गुणस्थान वीतराग:..... स.सा/ता.वृ. १८४-१८५

अर्थात् ४ से ६ गुणस्थानवर्ती जीवों को सरागी व ७ वें गुणस्थान से वीतरागी कहा जाता है। अत: सरागी जीवों की सराग भावना व वीतरागी जीवों की वीतराग भावना होती है।

५. शंका – सराग भावना को क्या आभ्यंतर धर्म ध्यान कहते हैं ?

समाधान– सहजशुध्द परमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मन्युपादेयबुध्दिंकृत्वा पश्चादनन्तज्ञानोऽहमनन्तसुखोऽहमित्यादिभावना रूपमभ्यन्तरधर्मध्यानमुच्यते । पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादितदनुकूलशुभानुष्ठानं पुनर्बहिरंगधर्मध्यानं भवति। बृ.द्र.सं.टी. गा.४८ पृ. १६१

अर्थात् सहज शुध्द परम चैतन्य से शोभायमान तथा निर्भर (परिपूर्ण) आनंद के समूह को धारण करने वाला जो भगवान् निज आत्मा है उसमें उपादेय बुध्दि करके मैं अनंतज्ञान का धारक हूँ। मैं अनंत सुख का धारक हूँ। इत्यादि भावना का करना है सो वह अन्तरंग धर्म ध्यान कहा जाता है। और पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति आदि तथा उसके अनुकूल जो शुभ अनुष्ठान का करना बहिरंग धर्मध्यान कहलाता है। तात्पर्य यह है अनंत ज्ञानोऽहं, अनंत सुखोऽहं, इत्यादि सराग भावना आभ्यंतर धर्म ध्यान है। तथा भक्ति आदि का अनुष्ठान बहिरंग धर्म ध्यान है।

६. शंका – क्या आभ्यंतर शुध्द भावना रूप धर्म ध्यान सभी श्रावकों को हमेशा होता ही रहता है या कभी-कभी ?

समाधान– श्रावकाणामपि सामायिकादि काले शुध्द भावना दृश्यते-प्र.सा/ता.वृ. २४२

श्रावकों को भी सामायिक आदि के समय (कभी किसी-किसी को) शुध्द भावना देखी जाती है।

चतुर्थ गणुस्थान योग्यामात्मनोविरतावस्थामपरित्यजन् -

बृ.द्र.सं./टी २/३८

चतुर्थ गुणस्थान योग्यमात्मभावनामपरित्यजन् सन् देवलोके -पं.का./ता.वृ.१७०

अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान के योग्य आत्म भावना को नहीं छोडते हुए.

चक्रवर्त्यादि विभूतिं लब्ध्वापि पूर्व भवभावित शुध्दात्मभावना बलेन मोहं न

करोति। पं.का./ता. वृ. १७०

७. शंका– वीतराग गुणस्थानों में वीतराग भावना कब और किसे होती है ?
समाधान– बाह्याभ्यंतर परिग्रह रहित स्वशुध्दात्म भावनोत्पन्न वीतराग परमानंद सहितो मुनिर्यत्सुखं लभते तद् देवेन्द्रादयोऽपि न लभन्ते इति। प.प्र.टी. १/११७

अर्थात् बाह्याभ्यंतर परिग्रह से रहित मुनिजन अपनी शुध्दात्मभावना (शुध्दोपयोग) से उत्पन्न परम आनंद से युक्त जो सुख प्राप्त करते हैं वह देवेंन्द्र आदि भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। बाह्याभ्यंतर परिग्रह त्यागं कृत्वा सर्व तात्पर्येण निज शुध्दात्म भावना कर्तव्येतितात्पर्यम्। प.प्र.टी. १/९९

(१० प्रकार के) बाह्य तथा (१४ प्रकार के)आभ्यंतर परिग्रह का त्याग करके सभी प्रकार से अपनी शुध्दात्म भावना को करना चाहिए।

शुध्दात्मभावना लक्षणस्य वीतराग निर्विकल्प समाधि -प.प्र.टी /९

शुध्दोपयोग भावनान्तर्भूतं वीतराग निर्विकल्प समाधि.- प.प्र.टी./७

इन दोनों उदाहरणों में वीतराग निर्विकल्प ध्यान को ही शुध्दात्म भावना या शुध्दोपयोग भावना कहा है । तात्पर्य यह है, वीतराग भावना ही वीतराग (निश्चय) धर्मध्यान है।

८. शंका– क्या वीतराग निर्विकल्प ध्यान ही निश्चय धर्मध्यान है ?
समाधान– रागादि दोष रहित: शुध्दात्मानुभूतिसहितो: निश्चयधर्मो
पं.का. ता.वृ. २/९५

रागदिदोष (रूप विकल्पसे) रहित शुध्दात्मानुभूति सहित निश्चय धर्मध्यान होता है।

९. शंका– निश्चय, वीतराग धर्मध्यान रूप- भावना क्या गृहस्थों को होती है ?

समाधान– नहीं होती है -यथा

ये गृहस्थापि सन्तोमनागात्म भावनामासाद्य वयं ध्यानिनां इति ब्रूवते ते जिन धर्म विराधका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्या:। - मो.पा.टी. २/३०५

अर्थात् जो गृहस्थ होते हुए भी (क्वचित् कदाचित्) थोडी (सविकल्पात्मक) भावना को प्राप्त करके हम ध्यानी हैं ऐसा कहते हैं, वे जिन धर्म विराधक मिथ्यादृष्टि है, ऐसा जानना चाहिए। यही बात ज्ञानार्णव,

आराधनासार, भावसंग्रह, प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, परमात्मप्रकाश, बृहद्द्रव्यसंग्रह आदि ग्रंथों में कही है। विशेष विस्तार- देखें इसी शुध्दोपयोग के पृष्ठ .५० से, ५४

१०. शंका– निर्विकल्प ध्यान व भावना में क्या अंतर है ?

समाधान– इसी बात को धवला पु.१३/५,४,२६/गा. १२/६४ में कहा है कि- यथा जंथिर मज्झवसाणं तं ज्झाणं जं चलंत चित्त तं होई भावणा वा अणुपेहा वा अहवा चिन्ता ॥१२॥ जो परिणामों की स्थिरता होती है उसे ध्यान कहते हैं। और जो चित्तका एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में चलायमान होना है उसे भावना/अनुप्रेक्षा/चिंता कहते हैं।

सविकल्प सराग गुणस्थानों में भावना का चिन्तन/अनुप्रेक्षा/विकल्प रूप से घटित करना चाहिए। जो अप्राप्त की प्राप्तिके लिये की जाती है। यह ४ से ६ गुणस्थानों में होती है। तथा निर्विकल्प धर्म, शुक्ल ध्यान रूप भावना यथायोग्य निर्विकल्प धर्म ध्यानरूप अप्रमत्तादि गुणस्थानों में होती है। तथा शुक्ल ध्यान रूप अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में होती है।

(८) मोक्षमार्ग रत्नत्रय

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं। तथा इन तीनों की एकता को ही मोक्षमार्ग कहते हैं। यद्यपि सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् हो जाते हैं फिर भी प्रत्येक गुणों को आवारक कर्मों का योग्य उपशम क्षय, क्षयोपशम की आवश्यकता होती है। सम्यक्त्व के साथ मति-श्रुत अवधि ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम सम्यग्ज्ञान है।

तथा संपूर्ण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय ही क्षायिक (केवल) सम्यग्ज्ञान है । यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में अभी संकल्परूप चारित्र नहीं है, अतः मोक्षमार्गी नहीं हैं फिर भी, उपचार से उसे मोक्षमार्गी कहा जा सकता है। सम्यक्त्व के साथ साथ जब पांच पापों का संकल्पपूर्वक एकदेश त्याग किया जाता है तथा ऐसे समय जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होता है तब देशचारित्र होता है। अभी यह चारित्र की परीक्षा में पूर्णतः पास नहीं हुआ है । अतः इसकी चारित्र यह संज्ञा न देकर आचार्यों ने देश चारित्र ऐसी संज्ञा दी है।

इसके आगे जब संकल्प पूर्वक पूर्णतः पांचो पापों के त्याग के साथ साथ जब मुनिव्रत को धारण किया जाता है तथा उस समय जब प्रत्याख्यानवरण कषाय का क्षयोपशम होता है तभी सकल चारित्र के होनेपर चारित्र अपना सच्चे अर्थ में चारित्र नाम पाता है। यह चारित्र सविकल्प, सराग भेद या बाह्याभ्यंतर रूप सकल चारित्र है जो कि अध्यात्म दृष्टि से साधनस्वरूप व्यवहार संज्ञा को प्राप्त होता है। यह सब करणानुयोग की अपेक्षा से छठ्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि की अवस्था है । अतः इस गुणस्थानवर्ती सच्चे भावलिंगी मुनि को ही भेद, सराग, सविकल्प या व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग कहा जाता है। तथा इसके आगे जब संज्वलन कषाय का मंद उदय होता है तब वीतराग निर्विकल्प चारित्र / समाधि निश्चय धर्मध्यान रूप शुध्दोपयोग का प्रारंभ होता है । तभी वहाँ से अभेद, वीतराग निर्विकल्प, निश्चय, अभेद, रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है।

संपूर्ण कषायों के उपशम से होने वाले ग्यारहवें (उपशान्त मोह नामक) गुणस्थानवर्ती मुनिराज के यह उक्त चारित्र, तथा संपूर्ण कषायों (मोहनीय कर्म) के क्षय से होने वाले क्षीणमोह आदि गुणस्थानवर्ती मुनिराजों का चारित्र, वीतराग, निर्विकल्प, निश्चय अभेद यथाख्यात चारित्र संज्ञा को प्राप्त होता है।

इसके अनंतर शेष घातिकर्म, प्रकृतियों के क्षय हो जाने से सयोग केवली नामक १३ वा गुणस्थान हो जाता है जहां की सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के आवरणकर्मोंका पूर्णत: क्षय हो जानेपर भी चारित्र पूर्ण नहीं हो पाता है। इसलिये मोक्षमार्ग ही रहता है। जब अयोग केवली नामक १४ वें गुणस्थान में १८ हजार शीलरूप चारित्र की पूर्णत: होते ही संपूर्ण कर्म का क्षय कर उन महामुनिराज का निश्चय रत्नत्रय या मोक्षमार्ग पूर्ण होते ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ध्यान रहे कि निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग भी हमारा शुध्द स्वभाव नहीं है । यह तो करण/साधन ही है इसके अनंतर प्राप्त होने वाला मोक्ष /सिध्द अवस्था ही हमारा सच्चा वास्तविक स्वभाव है।

१. शंका – मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

समाधान– सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रणि मोक्षमार्ग: । - त. सू. १/१

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्ष मार्ग है।

२. शंका– मोक्षमार्ग के कितने भेद हैं ?

समाधान– यद्यपि मोक्षमार्ग एक ही है । यथा-

एक्कोही मोक्ख मग्गो अर्थात् मोक्षमार्ग एक ही है।

त.सू. अ. १ सू. १ में मार्ग: यहाँ भी एक वचन का ही प्रयोग है । अत: मोक्षमार्ग एक ही होता है, दूसरा नहीं। किन्तु फिर भी उसके साधकों की अपेक्षा से दो भेद भी किये गये हैं। यथा- निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो व्दिविधा स्थित: । त.सा. टी./२

निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है।

३. शंका – व्यवहार मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

समाधान– श्रध्दानाधिगममोपेक्षा या पुन: स्यु: परात्मना ।

सम्यक्त्व ज्ञान वृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारत: ॥

त.सा.टी./४)

आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तथा सम्यक्चारित्र यदि भेद अर्थात् विकल्प की मुख्यता से प्रगट हो रहा हो तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप रत्नत्रय को व्यवहार मोक्षमार्ग समझना चाहिए।

४. शंका– क्या व्यवहार रत्नत्रय को ही भेद रत्नत्रय कहते हैं ?

समाधान– व्यवहारेण वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत शुध्दात्मतत्त्व प्रवृत्ति षड्द्रव्य पंचास्तिकाय सप्ततत्त्व नव पदार्थ विषये सम्यक् श्रध्दान ज्ञानाहिंसादि व्रत शील परिपालन रूपस्य भेद रत्नत्रयस्य: । प.प्र./टी. २/३१/१५०/१६

अर्थात् व्यवहारसे सर्वज्ञ प्रणीत शुध्दात्मतत्व को आदि लेकर जो षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्व, नवपदार्थ इनके विषय में सम्यक् श्रध्दान व ज्ञान करना तथा अहिंसादि व्रत शील आदि का पालन करना ऐसा भेद रत्नत्रय का स्वरूप है।

५. शंका– क्या ये तीनों अलग-अलग एक-एक या युगल दो-दो मोक्ष मार्ग नहीं हैं ?

समाधान– इसे सर्वार्थ सिध्दि टीका १/१ में इस प्रकार से समझाया है । यथा सूत्र में मार्ग: ऐसा जो एक वचन निर्देश किया है, यह तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है। यह बताने के लिए किया है। इससे सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन, या सम्यक् चारित्र में पृथक् पृथक् रहते हुए मार्गपने का निषेध हो जाता है। अत: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्ष का एक साक्षात् मार्ग है, ऐसा जानना चाहिए।

६. शंका– क्या ये तीनों अलग अलग भी हो सकते हैं ?

समाधान– हाँ, तभी तो सूत्र में चारित्राणि यह बहुवचन रूप तीनों यह शब्द दिया है । अन्यथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इस वाक्य की कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। एक मात्र मोक्षमार्ग: कह देते, इतना ही पर्याप्त था।

हाँ इतना जरूर है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र में पूर्व पूर्व की प्राप्ति होनें पर उत्तर उत्तर की प्राप्ति भजनीय है। अर्थात् हो भी और न भी हो। परन्तु उत्तर की प्राप्ति में पूर्व का लाभ निश्चित है । जैसे-जिसे सम्यग्चारित्र होगा उसे सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होगें ही, पर जिसे सम्यग्दर्शन है उसे पूर्ण सम्यग्ज्ञान और चारित्र हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।

७. शंका – क्या व्यवहार रत्नत्रय युगपत् होता है ?

समाधान– युगपत् हो भी सकता है और नही भी । अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

तो युगपत् होते हैं किन्तु चारित्र भजनीय है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन ज्ञान तो होता है किन्तु संकल्प पूर्वक चारित्र नहीं होता है। पंचम गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, ज्ञान के साथ एकदेश चारित्र तो होता है किन्तु सकल चारित्र नहीं होता है। छट्ठे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन ज्ञान सकलचारित्र रूप व्यवहार सराग चारित्र युगपत् रहता है। यहाँ तक ही साधक स्वरूप भेद सराग या सविकल्प रत्नत्रय पाया जाता है। सातवें सराग व्यवहार भेद सविकल्प साधक रत्नत्रयात्मक के पश्चात् ही आदि गुणस्थान में निश्चय निर्विकल्प साध्य स्वरूप, रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग होता है। यहाँ से ही अभेद रत्नत्रय प्रारंभ होता है।

८. **शंका** – क्या व्यवहार से सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान को अथवा देशचारित्र को मोक्षमार्ग कह सकते हैं ?

समाधान– हाँ, व्यवहार नय से एक एक या दो दो को भी मोक्ष मार्ग कहा जा सकता है। क्यो कि व्यवहार भेद को विषय करता है। अथवा महिमा वाक्य की प्रधानता से भी कथन करता है। जैसे-अविरत सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गी है। यथा-**निर्मोहो गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो** - र.श्रा-३३ अर्थात् दर्शनमोह के उदय से रहित अविरत सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गी है। अथवा देशव्रती भी मोक्षमार्गी है। अथवा इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि अविरत सम्यग्दृष्टि को पाया जाने वाला सम्यग्दर्शन ज्ञान के साथ सम्यक्त्वाचरण (उपचार से) चारित्र पाया जाता हैं। अतः इस दृष्टि से भी अविरत सम्यग्दृष्टि कथंचित् मोक्षमार्गी है। (सविस्तृत देखें चारित्र प्रकरण को) इसी प्रकार देशव्रती नामक पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक भी सम्यग्दर्शन ज्ञान के साथ पाया जाने वाला देश चारित्र से युक्त होने के कारण एक देश मोक्षमार्गी है । वास्तव में सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा सकल चारित्र से युक्त मुनिजन ही व्यवहार से मोक्षमार्गी हैं।

९. **शंका**– निश्चय मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

समाधान– निश्चयेन वीतराग सदानंदैक रूप सुख सुधारसास्वाद परिणत निज शुध्दात्म तत्त्व सम्यक्श्रध्दान ज्ञानानुचारण रूपस्याभेद रत्नत्रयस्य....

प.प्रा/ टी. २/३१/१५१/१

अर्थात् निश्चयसे वीतराग सुख रूप परिणत जो निज शुध्दात्मतत्व उसीसे सम्यक्श्रध्दान ज्ञान व अनुचरण रूप अभेद रत्नत्रय का स्वरूप है। अथवा

णिच्चय णयेण भणिदो ति हि तेहिंसमाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किं चि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्ख मग्गोत्ति। पं.का. /मू. १६१
अर्थात् जो आत्मा इन तीनों (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) व्दारा समाहित होता हुआ अन्य कुछ भी न करता है और न छोड़ता है (छोडने के विकल्प से भी अतीत हो जाता है) वह आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग कहा जाता है।
एक मेव हि चैतन्यं शुध्द निश्चयतोऽथवा।
को ऽ वकाशो विकल्पानां तत्रा खण्ड वस्तुनि॥
शुध्द निश्चय नय की अपेक्षा से ये तीनों एक चैतन्य स्वरूप ही है। कारण उस एक अखण्ड वस्तु में भेदों के लिये स्थान ही कहाँ हैं।

१०. शंका– पर्यायार्थिक व द्रव्यार्थिक नय से रत्नत्रय का स्वरूप क्या है ?
समाधान– स्यात् सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र रूप: पर्यायार्था देश तो मुक्ती मार्ग:। एको ज्ञाता सर्व देवाद्वितीय: स्याद् द्रव्यार्था देशतोमुक्ति मार्ग: ॥ त.सा. च./२१

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनों में भेद करना सो पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से मोक्षमार्ग है। इन पर्याय में ज्ञाता जीव एक ही रहता है। पर्याय तथा जीव में कोई भेद न देखते हुए रत्नत्रय से आत्मा को अभिन्न देखना, सो द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से मोक्षमार्ग है।

११. शंका– निश्चय व्यवहार रत्नत्रय या मोक्षमार्ग का पारस्परिक क्या संबंध है ?

समाधान – (१) निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो व्दिधा स्थित:।
तत्राद्या: साध्य रूप: स्याद् व्दितीयास्तस्य साधनम्॥ त.सा. नं./२
निश्चय व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है।
तहाँ निश्चय मोक्षमार्ग तो साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है।
(२) निश्चय मोक्षमार्गस्य परंपरया कारण भूतं व्यवहार मोक्षमार्ग।
पं.का/ता.वृ.१०५/१६७
निश्चय मोक्षमार्ग का परंपरा कारण व्यवहार मोक्षमार्ग है ऐसा जानो।
(३) निश्चय मोक्षमार्ग साधकं व्यवहार मोक्षमार्ग जानीहि। -
प.प्र./सी १४/

१२८/१०

निश्चय मोक्षमार्ग के साधक व्यवहार मोक्षमार्ग को जानों।

१२. शंका– किसी दृष्टांत व्दारा निश्चय व्यवहार की साध्यसाधकपना को समझाईये।

समाधान– (१) न चैत व्दिप्रतिषिध्दं निश्चय व्यवहारयो: साध्यसाधन भावत्वात् सुवर्ण सुवर्णपाषाण वत्। पं.का/त.वृ. १५९ पृ. २३०

निश्चय द्वारा अभिन्न साध्यसाधन भाव से तथा व्यवहार द्वारा भिन्न साध्य साधन भाव से जो मोक्षमार्ग का दो प्रकार से प्ररूपण किया है। इनमें परस्पर विरोध आता हो, ऐसा नही है, क्योंकि स्वर्ण और स्वर्णपाषाण वत् निश्चय व व्यवहार को साध्य साधनपना है। अर्थात् जैसे सुवर्ण पाषाण अग्नि के संयोग से शुध्द स्वर्ण बन जाता है वैसे ही जीव व्यवहार के संयोग से निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त हो जाता है। अथवा

जीवऽप्रविश्य व्यवहार मार्ग न निश्चयं ज्ञातुमपैति सक्तिम्।
प्रभाविकाशे क्षण मात्रेण भानूदयं को वदते विवेकी॥ आ.सा. ७/३०

जैसे प्रभात हुए विना सूर्य का उदय नहीं हो सकता है। वैसे ही व्यवहार मार्ग में प्रवेश किये बिना जीव निश्चय मार्ग को जानने में समर्थ नहीं हो सकता है। इसी बात को (परमात्मप्रकाश टी. आ. २/ १२९/१ पृष्ठ पर) कहा है अत्राह शिष्य: निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्प: तत्काले सविकल्प मोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति। अत्र परिहारमाह। भूतनैगमनयेन परंपराया भवतीति। अथवा सविकल्प निर्विकल्प भेदेन निश्चय मोक्षमार्गो व्दिधा, तत्रानन्तज्ञानरुपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरुपो साध्यो भवतीति भावार्थ:। (सविकल्प निर्विकल्पं निश्चय मोक्षमार्ग विषये संवाद गाथा माह-

जं पुण सगयं तच्चं सवियप्पं होइ तह य अवियप्पं।
सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगय संकायं।

१३. शंका– निश्चय मोक्षमार्ग निर्विकल्प है तथा उसके होते हुए सविकल्प मोक्ष मार्ग नहीं होता हैं। तब वह निश्चय का साधक कैसे हो सकता है ?

समाधान– भूतनैगम नयकी अपेक्षा परम्परासे वह साधक हो जाता है अथवा

दूसरे प्रकार से यो समझ लीजिये की सविकल्प व निर्विकल्प के भेद से दो प्रकार का मोक्षमार्ग है।जहाँ मै अनंत ज्ञान स्वरूप हूँ इत्यादिरूप सविकल्प मार्ग तो साधक होता है और निर्विकल्प समाधिरूप (निश्चय मोक्षमार्ग) साध्य होता है ऐसा भावार्थ है। उक्त शंका समाधान में उक्त समाधान ही पर्याप्त है।

१४. शंका– क्या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक मोक्षमार्गी है ?

समाधान– इस विषयक में आचार्यों के कथन को चार प्रकार से विभाजन किया जा सकता है (१) निश्चय (२) व्यवहार (३) एकदेश तथा (४) उपचार

(१) **निश्चय मोक्षमार्ग** - जो वीतराग निर्विकल्प समाधि (ध्यान) रूप अभेद रत्नत्रय मय अप्रमत्तादि मुनियों को ही पाया जाता है।

(२) **व्यवहार मोक्षमार्ग**- जो सराग ध्यान या भावनारूप भेद रत्नत्रय वाले ६ वें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रंथ मुनियों को ही पाया जाता है।

(३) **एकदेश रत्नत्रय** - यद्यपि निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता १४ वें गुणस्थान के अंत में होती है। अत: उनका ही निश्चय रत्नत्रय पूर्ण माना जाता है। बाकी ७ वें गुणस्थान से १३ वें गुणस्थान तक निश्चयात्मक एक देश रत्नत्रय माना गया है तथा व्यवहार से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ एकदेश चारित्र पंचम गुणस्थान में पाया जाता है। अत: भेद रूप एकदेश रत्नत्रय, सराग एकदेश रत्नत्रय, सविकल्प एकदेश रत्नत्रय पंचम गुणस्थान में ही पाया जाता है।

(४) **उपचार रत्नत्रय**- चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान युगपत् पाया जाता है। किन्तु चरणानुयोग प्रधान ग्रंथो में कथित सकलं विकलं चरणं रूप न सकलचारित्र ही पाया है और न तो देशचारित्र ही पाया जाता है। फिर भी चूंकि सम्यग्दर्शन के होते ही सभी गुण सम्यकरूप हो जाते हैं। अत: चारित्र गुण कि पर्याय भी मिथ्यारूप नहीं रहतीं अपितु सम्यक् रूप आचरण भी पाया जाता है जिसे आचार्य श्री कुंदकुंददेवने मोक्षपाहुड में सम्यक्त्वाचरण नाम दिया है। यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र अंतरंग व बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है। किन्तु फिर भी अनंतानुबंधी कषाय के अभाव से होने वाला यह चारित्र अध्यात्मदृष्टिसे सराग या व्यवहार चारित्र ही कहलाता है। वह भी अभी इतना कमजोर होता है कि उसे किसी भी आचार्यों ने देश या सकल चारित्र में संग्रहित नहीं किया है। अत: चारित्र होने पर भी यह अभी चारित्र संज्ञा को प्राप्त नहीं हो पाया है। और

इसी कारण से सिध्दांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य ने इसे (देश या सकल चारित्र के अभावात्मक/रूप से चतुर्थ गुणस्थान अचारित्र रूप में ही गिनाया है।
यथा चारित्रंणत्थि जदो अविरद अंतेसुठाणेसु। अर्थात् यहाँ तक के गुणस्थानों में चारित्र संज्ञक चारित्र नहीं है क्योंकि अविरत दशा का यह अंतिम चौथा गुणस्थान है। इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान में उपचार से रत्नत्रय अथवा मोक्षमार्ग कहा जाता है अथवा मोक्षमार्ग का मूल या प्रथम सीढ़ी स्वरूप सम्यग्दर्शन यहाँ पाया है इसके बाद ही ज्ञान व चारित्र होता है।

यथा- दर्शनं ज्ञान चारित्रात्, साधिमान मुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं, तन्मोक्ष मार्गे प्रचक्षते। .....र.श्रा.३१

ज्ञानचारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन उत्कृष्ट पने को प्राप्त होता है, यथा सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में खेवटिये के समान कहा गया है। तथा इसी ग्रंथ में ही ३२,३३ वी गाथा में कहा है कि बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान व चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होता है। एवं सम्यग्दर्शन के बिना मुनि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गस्य कहा है।
गृहस्थो मोक्षमार्गस्यो.....

१५. शंका–निश्चय मोक्षमार्ग व व्यवहार मोक्षमार्ग क्या एक साथ होते है।
समाधान– अत्राह शिष्य: ! निश्चय मोक्षमार्गो निर्विकल्प: तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति ? अत्र परिहारमाह । भूत नैगम नयेन परम्पराया भवतीती प.प्र./टी २/१४/१२९ /१

यहाँ प्रभाकर भट्ट प्रश्न करता है कि निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है, उस समय सविकल्प मोक्षमार्ग नहीं है तो वह साधक कैसे हो सकता है ? तो इसके उत्तर में योगीन्दु देव कहते हैं कि यह भूतनैगम नय कि अपेक्षा से परम्परासे साधक होता है।

१६. शंका– निश्चय मोक्षमार्ग के कितने भेद हैं ?
समाधान– सविकल्प, निर्विकल्प भेद निश्चय मोक्षमार्गो द्विधा।
अर्थात्, सविकल्प और निर्विकल्प भेद से निश्चय मोक्षमार्ग दो प्रकार से होता है।

१७. शंका – सविकल्प निश्चय मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

समाधान– तत्रान्त ज्ञान रूपोऽहमित्यादि सविकल्प साधको भवति। अर्थात् अनंतज्ञान रूप मैं हूँ इत्यादि (भावनारूप) सविकल्प मोक्षमार्ग है।

प.प्र./टी/२/१४/१२९/१

१८. शंका – निर्विकल्प निश्चय मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

समाधान– निज शुध्दात्म सम्यक्श्रध्दान ज्ञानानुष्ठान रूपो निश्चय मोक्षमार्ग: निश्चय मोक्षमार्गो निर्विकल्प: निर्विकल्प: समाधिरूपो..।

प.प्र./८/२/१४/१२८

अर्थात् अपनी शुध्दात्मा के प्रति सम्यक्श्रध्दान, उसी का ज्ञान और उसी रूप अनुष्ठान (तीनों की एकही समय में अभेद अवस्था रूप निश्चय मोक्षमार्ग है। जो कि निर्विकल्प रूप है अर्थात् निर्विकल्प ध्यान रूप है।

१८. शंका– सविकल्प मोक्षमार्ग व निर्विकल्प मोक्षमार्ग में साध्य साधक भाव घटित कीजिये ?

समाधान- सविकल्प साधको भवति, निर्विकल्प समाधि रूपो साध्यो भवतिति भावार्थ:। प.प्र/टी./२/१४/१२९/१

अर्थात् सविकल्प मोक्षमार्ग साधक होता है और उसके द्वारा निर्विकल्प समाधि रूप मोक्षमार्ग साध्य होता है।

२१. शंका– व्यवहार रत्नत्रय चौथे से छटवें गुणस्थान तक होता है, तथा निश्चय रत्नत्रय सातवें में तथा उसके आगे के गुणस्थानों में होता है। क्या यह गलत धारणा नहीं हैं ?

समाधान– नहीं, अध्यात्मिक दृष्टि से व्यवहार रत्नत्रय, भेद रत्नत्रय सविकल्प और शुभोपयोग रूप रत्नत्रय ४,५,६ गुणस्थान में ही होता है। यथा -शुध्दात्म भावना सहकारिभूत किमपि प्रासुकाहार ज्ञानोपकरणादिकं गृह्णातीत्यपवादो- व्यवहारनय एकदेशपरित्यागस्तथा चापहृतसंयम: सराग चारित्रं शुभोपयोग इति याववदेकार्थ- (प्र.सा.ता.वृ. ३/३०/टी.पृ.२८७) उपर्युक्त वाक्य से स्पष्ट है कि व्यवहार नय, एकदेश परित्याग, अपहृत संयम, सराग चारित्र और शुभोपयोग एकार्थवाची हैं। अत: जब शुभोपयोग ४,५,६ गुणस्थान में होता है तो फिर भेद रत्नत्रय, व्यवहार रत्नत्रय, एकदेश परित्याग, अपहृत संयम और सराग संयम ये भी यथायोग्य रूप हो ४,५,६ गुणस्थान में ही होते हैं क्या चतुर्थ गुणस्थानमें

चारित्र पाया जाता है ? इसका उत्तर चारित्र प्रकरणमें देखें। तथा -

निश्चय रत्नत्रयात्मक शुध्दोपयोगेन (प्र.सा/ता.वृ.१/९)

निर्विकल्प समाधिकाले तु निश्चयेनेति तदेव च नामान्तरेण परमसाम्यमिति तदेव परमसाम्यं पर्यायनामान्तरेण शुध्दोपयोग लक्षणः श्रामण्यापरनामो मोक्षमार्गे ज्ञातव्यः इति। प्र.सा.ता. वृ. ३//४२/३०६

अर्थात् उपर्युक्त इस वाक्य से भी-

निश्चय रत्नत्रय, निश्चयनय, परमसाम्य, शुध्दोपयोग लक्षण, श्रामण्य मोक्षमार्ग और शुध्दोपयोग, वे सभी एकार्थवाची हैं। अतः जब शुध्दोपयोग ही ७ से १२ वें गुणस्थान तक होता है तो शुध्दोपयोग के पर्यायवाची शब्द निश्चय रत्नत्रय भी सातवें गुणस्थान में तथा उसके आगे के गुणस्थानों तक होता है, अन्य में नहीं। इसे गलत कहना ही आगम की अवहेलना करना है तथा यह सब लक्षण श्रुत का अवर्णवाद करना है, जो कि दर्शनमोह रूप मिथ्यात्व कर्म का आस्रव कराने वाला है। अतः भव भीरुओं को कभी आगम को गलत बताने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा दुस्साहस तो कलिकाल सर्वज्ञ वीरसेनाचार्य जी ने भी नहीं किया । अपितु जहाँ दो आचार्यों के दो मत मिले वहाँ उन्होंने यही कहा कि निर्ग्रंथाचार्यों के वचनों को गलत। असत्य कहने में एलाचार्य की जीभ (जिह्वा न हिल्लज्ज) नहीं हिल सकती। ऐसा कहा है। अथवा जब तक साक्षात् केवली का समागम प्राप्त नहीं हुआ तब तक उभय वाक्यं प्रमाणं कहा। किन्तु किसी को गलत कहने का दुस्साहस नहीं किया है।

२२. शंका– बृहद् द्रव्यसंग्रह द्वितीय अध्याय ? (चूलिका पृष्ठ ६६) गा. टीका की उत्थानिका में निश्चय रत्नत्रय स्वरूपं चेती तत्साधकं व्यवहार रत्नत्रय रूपं अर्थात् जो निश्चय रत्नत्रय स्वरूप हैं उसका साधक व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप है। वह चौथे से छटवें गुणस्थानों में होता है। इसलिये ऐसे शुध्दोपयोग साधक को शुभोपयोगी कहा जाता है। इस शुध्दोपयोग के जो साधक शुभोपयोग से (छूटकर) सातवें गुणस्थान् में आरूढ होते है- उसे ही शुध्दोपयोग होता है। ऐसा तर्क वहाँ पुष्ट करने की कोशिश भरसक की है परन्तु विड़म्बना यह है कि उनका यह भ्रामक तर्क उन्हीं के उक्त उदाहरण को पूर्णतया अच्छी तरह पढ़ने पर पूर्ण रूप से निरस्त कर देता है । उस मूल उध्दरण को यहां अर्थ सहित दे रहा हूँ।

उपादेयतत्वं अक्षयानन्तसुखं, तस्य कारणं मोक्षो मोक्षस्य कारणं संवर

निर्जराव्दयं, तस्य कारणं विशुध्दज्ञान दर्शन स्वभाव निजात्म तत्त्व सम्यक्श्रध्दान ज्ञाननुचरण लक्षणं निश्चय रत्नत्रय स्वरूपं तत्त्व साधकं व्यवहार रत्नत्रय स्वरूपं चेति।

अर्थात् उपादेय तत्व वह अक्षय-अनन्तसुख है उसका कारण मोक्ष है। मोक्ष का कारण संवर तथा निर्जरा यह ही है, उसका कारण विशुध्द ज्ञान दर्शन स्वभाव है । उसी निजात्मतत्त्व का सम्यक्श्रध्दान सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् अनुचरण जिसका लक्षण है वही निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप है। इसी निश्चय रत्नत्रय का साधक यह व्यवहार रत्नत्रय है। ऐसे उदाहरण और भी अनेक हैं। (पृ. ३५)

समाधान– जैसा कि अर्थ शुध्दोपयोग विवेचन पुस्तक कर्ता ने दिया है, वैसा तो शुध्दोपयोग पुस्तक के ३६ वें पृष्ठ पर तो है ही नहीं। यह तो लेखक ने अपनी ओर से लिखा है। शुध्दोपयोग पुस्तक के पृष्ठ ३६ पर निश्चय रत्नत्रय स्वरूपं तत्साधकं व्यवहार रत्नत्रय चेति टिप्पण नं १६१ (अ) का विषय निम्न प्रकार है।

यहाँ वृत्तिकार ने अभिमुख और परिणाम को एक कहकर उस परिणाम को शुध्दोपयोग कहा है। अब हमें देखना है कि जो निश्चय रत्नत्रय स्वरूप पर्याय से परिणमित है वह पूर्व में क्या नियम से व्यवहार रत्नत्रय से भी परिणमित हो चुका था ? क्योंकि व्यवहार के विना निश्चय नहीं होता है, यह सामान्य नियम है। व्यवहार साधन है, कारण है, हेतू है, निमित्त है।यह वाक्य शब्दशः शुध्दोपयोग पुस्तक से है।

शुध्दोपयोग विवेचनाकार ने कहा कुछ, लिखा कुछ, ऐसा क्यों किया - विचारणीय है। अब हमें देखना है कि शुध्दोपयोग विवेचन कर्त्ता की दृष्टि में भी यदि उपरोक्त वाक्य ही लिखते हैं तो भी इससे हमें कोई हर्ज नहीं है । क्योंकि हम निश्चय रत्नत्रय का साधक ही व्यवहार रत्नत्रय को मानते हैं, और वह व्यवहार रत्नत्रय सराग सविकल्प शुभोपयोगरूप होता है तथा ४ से ६ गुणस्थानों में होता है। और ऐसे शुध्दोपयोग के साधक व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप शुभोपयोग पूर्वक ही अप्रमत्तगुणस्थानवर्ति मुनि को सातवें गुणस्थान से ही शुध्दोपयोग होता है। ऐसा तर्क पुष्ट करके भी सम्यक् कोशिश ही की है एवं दिग्भ्रमित लोगों के भ्रम को दूर करने का भरसक प्रयास किया है। अतः यह न तो विड़म्बना है न भ्रामक तर्क है

और न ही उक्त उद्धरण को पूर्णतया अच्छी तरह पढ़ने से निरस्त नहीं अपितु पुष्ट ही होता है। हाँ, यह बात अलग है, कि उपरोक्त आगम प्रमाण से उल्टे ही शुध्दोपयोग विवेचन कर्ता की ही मान्यता खण्डन होती है।

तथा जो उन्होंने वृ. द्र.सं.टीका - का जो अवशेष प्रमाण दिया है उसमें निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप बताकर यही तो कहा है कि इसी निश्चय रत्नत्रय का साधक यह व्यवहार रत्नत्रय है। और यही अर्थ तो विवेचक स्वयं लिख रहे है । अत: शुध्दोपयोग पुस्तक का उक्त वाक्य सत्य ही है।

२३. शंका– जैसे मिट्टी के घड़े में घी रखा होने से व्यवहार से उसे घी का घड़ा कहा जाता है । उसी प्रकार निश्चय एवं व्यवहार रत्नत्रय को समझना चाहिये क्या ? और उसके बिना अंदर में घी स्वरूप निश्चय रत्नत्रय न हो तब उस व्यवहार रत्नत्रय को खोखला, शून्य तथा आभास रूप समझा जाता है। यही आगम का व्यवहारभास है और वह तो मिथ्यात्व ही है या वह मिथ्यात्व पोषक होता है।

समाधान– उपरोक्त दृष्टान्त यहाँ घटित नहीं होता है । इस प्रकार की बात तो रथ्या ? पुरुष ही कर सकता है। ऐसा माननें से निश्चय व्यवहार में साध्य साधक भाव नहीं घटित होगा। क्योंकि दोनों को आपने युगपत् माना है। अथवा जैसे घी का आरोप घड़े में किया जाने पर घी का घड़ा कहा जाता है। उसी प्रकार अंदर में विद्यमान घी स्वरूप निश्चय रत्नत्रय का आरोप बाह्य रत्नत्रय में करने से वे व्यवहार रत्नत्रय, रत्नत्रय संज्ञा से प्राप्त होते हैं, ऐसा कहें या मानें तो ये अर्थ निकला कि निश्चय रत्नत्रय ने व्यवहार को व्यवहार रत्नत्रय संज्ञा दी हो तो व्यवहार साध्य हुआ, निश्चय साधन।

अथवा दोनों युगपत् ही रहते हैं, तो वे केवलियों के भी होना चाहिए क्योंकि उनके निश्चय रत्नत्रय पाया जाता हैं। तो फिर व्यवहार रत्नत्रय भी होना चाहिए। अथवा निश्चय (निर्विकल्प) व्यवहार (सविकल्प) दोनों अवस्थाएँ एक ही समय में घटित होना चाहिए । किन्तु दोनों का युगपत् रहना संभव नही है। अथवा निश्चय (वीतराग) व्यवहार (सराग) भी एक साथ होने से जैसे आप सराग के वीतराग सिद्ध करना चाहते हो, वैसे ही उसी युक्ति से वीतराग को भी सराग सिद्ध कर देंगे। अत: इस विषय में दिया गया दृष्टान्त भी दृष्टांतभास है।

२४. शंका– जैसे घी को चाहने वाला घी के घड़े की ओर निर्देश कर घी लाने को कहता है तथा सेवक घी से भरा घड़ा लाता है, पर उस घी से भरे घड़े को लाये जाने पर भी मालिक घी का ही सेवन करता है और घड़े को त्याग देता है। उसी प्रकार जब तक निश्चय (रत्नत्रय) स्वरूप घी अंदर विराजमान है तब तक व्यवहार स्वरूप घड़ा उस घी स्वरूप निश्चय को सुरक्षित रखता है, उसका लेबल (नाम) अपने वक्ष पर चिपका रखता है। इसलिये वह मिट्टीका होने पर भी उसे घी के घड़े के नाम से पूज्यता आती है, सम्मान मिलता है। उसी तरह जब तक देव शास्त्र गुरु की तथा सात तत्वों की भेदरूप श्रध्दा है, लक्षण जिसका ऐसा वह व्यवहार सम्यग्दर्शन उन्हीं का ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान के रूप से व्यवहार चारित्र रूप यह व्यवहार रत्नत्रय निजशुध्दात्मा का श्रध्दान ज्ञान अनुकरण, लक्षणरूप निश्चय रत्नत्रय को अपने साथ सुरक्षित रखता है, तभी तक उसे मोक्षमार्ग में निश्चय रत्नत्रय के साधक रूप से बहुमान मिलता है। उसे भी पूज्यता आती है। पर अन्दर में घी स्वरूप निश्चय रत्नत्रय न हो तब यही आगम का व्यवहारभास है। और वह तो मिथ्यात्व ही है या वह मिथ्यात्व पोषक होता है क्या ? (प$_{c}$. ३५.३६)

समाधान– इस शंका के समाधान पूर्व समाधान में ही समाविष्ट है विशेषता मात्र इतनी है कि जब अंदर में घी स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है ही, तो फिर व्यवहार उसका साधक ही कहाँ रहा ? क्योंकि असिद्ध को साधनेवाला ही साधन कहलाता है। सिध्द को साधना तो उन्मत्त पुरुष की चेष्टावत् ही माना जायेगा। अत: उसे साध्यसाधन भाव मानना भी गलत ठहरेगा। अत: उसे साध्य भी नहीं कहा जा सकेगा।क्योंकि वह उपलब्ध है, सिद्ध है। फिर साध्य कहाँ रहा ?

यद्यपि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्व, नव पदार्थों का श्रद्धान, साध्य (कार्य कारण) भाव से निश्चय सम्यक्त्व का कारण होने से व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है। अर्थात् व्यवहार साधक (साधन) है निश्चय साध्य है तो भी निश्चय नय से एक वीतराग परमानंद स्वभाव वाला शुद्धात्मा ही उपादेय है। ऐसी रुचि रूप परिणाम से परिणत हुई आत्मा शुद्धात्मा ही निश्चय सम्यक्त्व है।

२५. शंका–निश्चय व्यवहार सम्यग्ज्ञान में साध्य साधक भाव घटित कीजिए ?

समाधान– '' यद्यपि निश्चयस्वसंवेदन ज्ञान साधकत्वात्तु व्यवहारेण शास्त्रज्ञानं भवति, तथापि निश्चयनयेन वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानपरिणत: शुद्धात्मैव निश्चयज्ञानं भवति॥ '' प्र.प्र.टी. ९४ पृ. ८९

निश्चय स्वसंवेदन ज्ञान का साधक होने से व्यवहारनय कर शास्त्र का ज्ञान भी ज्ञान है। तो भी निश्चयनयकर वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानरूप परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयज्ञान है।

२६.शंकानिश्चय व्यवहार सम्यग्चारित्र में साध्य साधक भाव घटित किजिए ?

समाधान– निश्चयचारित्रसाधकत्वात्मूलोत्तर गुणा व्यवहारेण चारित्रं भवति, तथापि शुद्धात्मानुभतिरूपवीतराग चारित्र परिणत: स्वशुद्धात्मैव निश्चयनयेन चारित्रं भवतीति। प.प्र.टी.९४ पृ. ८९

निश्चय चारित्र के साधक होने से अट्ठाईस मुलगुण, चौरासी लाख उत्तरगुण, व्यवहारनय चारित्र कहे जाते हैं, तो भी शुध्दात्मानुभूतिरूप वीतराग चारित्र को परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चयनयकर चारित्र है।

२६. शंका– अभेद रत्नत्रय को किसी दृष्टान्त द्वारा समझाइए ?

समाधान– '' यथा द्राक्षाकर्पूर श्रीखंडादिबहुद्रव्यैर्निष्पन्नमपि पानकमभेद विवक्षयाकृत्वैकं भण्यते, तथा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणैर्निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रैर्बहुभि: परिणतो अनेकोऽप्यात्मात्वभेद विवक्षया एकोऽपि भण्यत इति भावार्थ:। तथा चोक्तं अभेदरत्नत्रय लक्षणम् '' दर्शनमात्मविनिश्चतिरात्म परिज्ञान मिष्यते बोध:। स्थितिरात्मनिचारितं कुत एतेभ्यो भवति बंध:।''

प.प्र.टी. ९६ पृ. ९९

जैसे दाख, कपूर, चंदन वगैरह बहुत द्रव्यों से बनाया गया जो पीने का रस वह यद्यपि अनेक स्वरूप है, तो भी अभेदनयकर एक पानवस्तु कहीं जाती है उसी तरह शुद्धानुभूति स्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रादि अनेक भावों से परिणत हुआ आत्मा अनेक रूप है, तो भी अभेदनय की विवक्षा से आत्मा एक ही वस्तु है। यहीअभेद रत्नत्रय का स्वरूप जैन सिद्धान्तो में हर एक जगह कहा है। '' दर्शनमित्यादि'' इसका अर्थ ऐसा है, कि आत्मा का निश्चय वह सम्यग्दर्शन है, *आत्मा का जानना वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में निश्चल होना वह सम्यक्चारित्र* है। यह निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण है, इनसे बंध कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता।

(९) आत्मा

जो चेतना अर्थात् ज्ञानदर्शन से युक्त है अर्थात् जिसमें ज्ञान दर्शन आदि अनंत गुण पाये जाते है वह आत्मा हैं।

वह बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार की होती है। शरीरादि पर पदार्थों को आत्मा का स्वभाव मानने वाले १,२,३, गुणस्थानवर्ती जीव की आत्मा बहिरात्मा है। तथा दोनों के भेद को माननेवाले ४ से १२ वें गुणस्थानवर्ती जीव की आत्मा अंतरात्मा है। जो कि तीन प्रकार की है।

(१) जघन्य अंतरात्मा - ४ थे गुणस्थानवर्ती जीव है।

(२) मध्यम अंतरात्मा- देशव्रती श्रावक तथा छट्टे गुणस्थानवर्ती मुनिराज हैं।

(३) उत्तम अंतरात्मा- ७ से १२ वें गुणस्थानवर्ती वीतरागी शुध्दोपयोगी मुनिराज हैं। १३ से १४ वें गुणस्थानवर्ती मुनि तथा सिद्धों की आत्मा परमात्मा है। १ से १२ वे गुणस्थान तक की सभी बहिरात्मा और अंतरात्मा पर समय कहलाती है एवं सिध्दो की आत्मा निकल परमात्मा है। तथा सकल व निकल परमात्मा ही स्व समय है । फिर भी किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने ७ वें गुणस्थान में स्वचरित्र तथा स्वसमय का वर्णन किया है इसके नीचे के गुणस्थानों में नहीं।

१. शंका– आत्मा किसे कहते हैं ?

समाधान– अक्षणोति, व्याप्नोति जानाति इति आत्मा- स.सि.

अर्थात् जो ज्ञानादि चिन्हों से व्याप्त हो जानती हो, वह आत्मा है। अथवा

दर्शनज्ञान चारित्रातण्यातीत्यात्मत्याम ततीत्याला पदस्य भिद्येयम्। स.सा./आ.५

अर्थात् जो दर्शन ज्ञान चारित्र को जो सदा प्राप्त हो, वह आत्मा है।

२. शंका– आत्मा के भेद कितने हैं ?

समाधान– तिपयारो सो अप्पा परभितंर बाहिरो दु हेऊणं। प्र.प्रा.- ४

अर्थात् आत्मा के तीन भेद है

(१) बहिरात्मा (२) अंतरात्मा (३) परमात्मा

३. शंका– बहिरात्मा किसे कहते हैं ?

समाधान– बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णिय सरूव चुओ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठी ओ॥
णियदेह सरिस्सं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण।
अचेयणं वि गहियं झाइज्जइ परम भावेण॥ मो.पा. ९-९

अर्थात् बाह्य धनादिक में स्फुरायमान (तत्पर) है मन जिसका वह इंद्रियों व्दारा अपने स्वरूप से च्युत है। अर्थात् इन्द्रियों को और देह को अपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। वह बहिरात्मा मिथ्यात्व भाव से जिस प्रकार अपने देह को आत्मा मानता है उसी प्रकार पर के अचेतन देह को भी अपनी आत्मा मानता हुआ उसमें बड़ा यत्न करता है।

४. शंका– अंतरात्मा किसे कहते है ?

समाधान– अंतर अप्पा हु अप्प संकप्पो॥ - मो.प्रा. ५

आत्मसंकल्पः शरीर कर्म रागव्देषादि मोहादि दुःख परिणाम रहितोऽयं ममात्मा वर्तते शरीरे तिष्ठन्न शुध्दनिश्चय नयेन शरीरं न स्पृशति कर्मबंधन बध्दोपि सन् कर्म बन्धनै र्बध्दो न भवति नलिनीदल स्थित जलवदितीदृशं भेदज्ञानं आत्म संकल्प उच्चयते स आत्म संकल्पो यस्य जीवस्य वर्तते सोऽन्तरात्मा वेदितव्यः। मो.प्रा.टी. ५

आत्म संकल्प अर्थात् शरीर और आत्मा के अंतर को जानने वाला अंतरात्मा है।

५. शंका– तीनों आत्माओं को स्व-पर समय में घटित कीजिये ?

समाधान– बहिरंतरप्पभेदं परसमयं भण्णदे जिणिंदे हिं।
परमप्पा सग समयं तब्भेदं जाण गुणठाणे॥ र.सा. १४०

तीन प्रकार के आत्माओं में जिनेन्द्र देव ने बहिरात्मा व अंतरात्मा को परसमय बतलाया है। तथा परमात्मा को स्व समय कहा है।

६. शंका– स्व- समय और परसमय किसे कहते हैं ?

समाधान–जीवो चरित्त दंसण णाणठ्ठिदो तं हि ससमयं जाण
पुग्गल कम्मुपदेसठ्ठियं च तं जाण पर समयं॥ स.सा. २

जो जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र में स्थित है उसे स्व समय जानो तथा जो पौद्गलिक कर्मों में स्थित है, उसे पर समय जानो।

७. शंका – क्या सभी अंतरात्मा पर समय ही है ?

समाधान– हाँ, अभेद रत्नत्रय की पूर्णता की दृष्टि (अपेक्षा) से पर समय ही है। किन्तु-वीतराग निर्विकल्प अभेद रत्नत्रय के प्रारंभ की अपेक्षा सप्तम अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती आदि जघन्य स्व समय भी है। यथा-आद सहावम्मि ठिदा ते सग समया मुणेदवा प्र.सा. २/२ (ज्ञेय तत्त्वाधिकार)
स्वचरितं.....स्व समयं पं.-का/ता.वृ. १५४
जो आत्मस्वभाव में लीन है वे स्व समय है ऐसा जानना चाहिए। अथवा स्वचरित्र स्व-समय है, उसे ही स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। यथा- स्वरूपे चरणं चारित्रं स्व समय प्रवृत्तिरित्यर्थः-
प्र.सा.त.वृ. ७

८. **शंका**– क्या स्व समय रूप स्वचरित्र मुनि को ही होता है ?
समाधान– हाँ, यथा-

जो सव्वसंगमुक्को णाणमणो अप्पणं सहावेण।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सग चरियं चरदिजीवो। प.का. १५५

अर्थात् जो सर्व संग मुक्त और अनन्य मनवाला वर्तता हुआ आत्मा को स्वभाव रूप से नियत जानता व देखता है वह (मुनि) स्वचारित्र आचरता है।

९. **शंका**– स्वचारित्र स्वरूप स्वरूपाचरण व स्वसमय किस गुणस्थान से प्रारंभ होता हैं
समाधान– स्वचारित्र, स्वरूपाचरण चारित्र व स्वसमय ये सभी एकार्थी हैं। अतः जहाँ एक होगा वहां सब होंगे। शुध्दोपयोग-अप्रमत्त गुणस्थान से क्षीण कषाय गुणस्थान पर्यंत यथा योग्य जघन्य मध्यम व उत्कृष्ट शुध्दोपयोग होता है। अतः उससे अविनाभावी स्व समय भी ७ वें गुणस्थान से ही प्रारंभ होकर बढ़ते हुए क्रम से आगे के गुणस्थानों में पाया जाता है।

(१०) संवर

आते हुये कर्मों के रुक जाने को संवर कहते हैं। जो कि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र में सभी भाव संवर के कारण हो तथा इनके माध्यम से द्रव्यास्रव का रुक जाना द्रव्य संवर है। प्रवृति रूप व्यवहार गुप्ति, समिति पापास्रव का संवर करती है। तथा निवृत्ति रूप निश्चय से शुध्दोपयोग रूप गुप्ति, समिति आदि पुण्य पाप दोनों का संवर करती है। व्यवहार गुप्ति, समिति आदि छटवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। तथा निश्चय स्वरूप शुध्दोपयोगात्मक गुप्ति, समिति आदि सातवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। यही दोनों मोक्ष में प्रयोजनीय हैं।

१. शंका– 'संवर' किसे कहते हैं ?

समाधान– आस्रव निरोधः संवरः त.सू. ९/१

आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं।

२. शंका– क्या बंध व्युच्छिति को भी संवर कहते हैं ?

समाधान– हाँ, बंध व्युच्छिति को करणानुयोग की दृष्टि से संवर कहते हैं। अतः प्रथम गुणस्थान में बंध व्युच्छिति नहीं है । अतः वहाँ संवर नहीं हैं। किन्तु दूसरे गुणस्थान से प्रारंभ होता है यथा-

मिथ्यादृष्टि गुणस्थाने संवरो नास्ति, सासादनादि गुणस्थानेषु...
बंन्ध विच्छेद त्रिभङ्गी कथितकमेणोपर्युपरि प्रकर्षेण संवरो ज्ञातव्य इति।
वृ.द्र.सं.टी. ३४

अर्थात् मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थान में तो संवर है ही नहीं और सासादनादि गुणस्थानों में..... बंध विच्छेद (बंध व्युच्छिति) त्रिभंगी में कहें हुए क्रम से अनुसार ऊपर ऊपर अधिकता में संवर जानना चाहिए।

३. शंका– संवर के मुख्य कितने भेद हैं ?

समाधान– संवर के मुख्य दो भेद है।

(१) द्रव्य संवर (२) भाव संवर

(सविशेष बृ.द्र.सं.टी. ३४ पृ. ७६ पर)

निश्चयेन स्वतः सिद्धत्वात्परकारणनिरपेक्षः, स चैवा विनश्वरत्वान्नित्यः परमोद्योतस्वभावत्वात्स्त्वापरप्रकाशनसमर्थः,

अनाद्यनन्तत्वादादिमध्यान्तमुक्तः,
दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबंधादि समस्तरागादिविभावमल रहितत्वादत्यन्तनिर्मलः, परमचैतन्य विलास लक्षणत्वाद्विदुच्छलननिर्भरः, स्वाभाविक परमानन्दैकलक्षणत्वात्परमसुखमूर्तिः, निरास्रव सहज स्वभावत्वात्सर्वकर्मसंवर हेतुरित्युक्तलक्षणः परमात्मा तत्स्वभावेनोत्पन्नो योऽसौ शुद्धचेतनपरिणामः स भावसंवरो भवति। यस्तु भाव संवरात्कारणभूतादुत्पन्नः कार्यभूतो नवतरद्रव्यकर्मागमनाभावः स द्रव्य संवर इत्यर्थः।

निश्चय नय से स्वयं सिद्ध होने से अन्य कारण की अपेक्षा से शून्य, अविनाशी होने से नित्य, परम उद्योत (प्रकाश) स्वभाव होने से अपने और पर के प्रकाशन में समर्थ अनादि अनंत होने से आदि, मध्य और अंतरहित देखे, सुने और अनुभव में किये हुए जो भोग हैं उनकी आकांक्षा (चाह) रूप जो निदान बंध आदि समस्त रागादिक चैतन्य विलास रूप लक्षण का, धारण का धारक होने से चित् चमत्कार (चिन्मय) स्वरूप, स्वभाविक परमान्द स्वरूप होने से परम सुख की मूर्ति का धारक और आस्रव रहित सहज स्वभाव होने से सब कर्मों के संवर में कारण, इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणों का धारक जो परमात्मा है उसके स्वभाव से उत्पन्न जो यह शुद्ध चैतन्य परिणाम है, सो संवर है और कारणभूत भाव संवर से उत्पन्न हुआ जो कार्य रूप नवीन द्रव्यकर्मों के आगमन का अभाव है सो द्रव्य संवर है।

४. शंका– भाव संवर के कितने भेद हैं?
समाधान– भाव संवर के मुख्य दो भेद हैं-
(१) केवल पापास्रव का संवर
(२) पाप और पुण्य दोनों का संवर

व्रतसमितिगुप्तिधर्म द्वादशानुप्रेक्षापरिषहजय चारित्राणां भावसंवर कारणभूतानां यद्व्याख्यानं कृतं तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहार रत्नत्रयरूपस्यशुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसंवरणानि ज्ञातव्यानि। यानि तु व्यवहाररत्नत्रयसाध्यस्य शुध्दोपयोग लक्षण निश्चय रत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसंवर कारणानि भवन्तीति ज्ञातव्यम्।

बृ.द्र.सं. ३५ पृ.११८

भावसंवर के कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, द्वादशानुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र इन सबका जो व्याख्यान किया, उस व्याख्यान में निश्चयरत्नत्रय को साधनेवाला जो व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोग है उसका निरूपण करने वाले जो वाक्य हैं वे तो पापास्रव के संवर में कारण जानने चाहिए। और जो व्यवहार रत्नत्रय से सिद्ध होने योग्य शुध्दोपयोग लक्षण निश्चय रत्नत्रय के प्रतिपादक वाक्य हैं वे पुण्य और पाप इन दोनों आस्रवों के संवर के कारण होते हैं, यह समझना चाहिए।

५. शंका– यहाँ सोमनामक राजशेठ कहता है कि भगवान् ! ये जो व्रत समिति आदिक संवर कर देगी फिर आपने जो विशेष प्रपंच (अधिक विस्तार से कथन) किया है, इससे क्या प्रयोजन है ?

समाधान– इस प्रश्न का उत्तर आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी देते हैं कि- मन - वचन-काय इन तीनों की गुप्ति स्वरूप जो निर्विकल्प समाधि (ध्यान) हैं उसमें स्थित जो मुनि है उनके तो उस गुप्ति से ही पूर्ति अर्थात् संवर हो जाता है और उसमें असमर्थ जो जीव हैं उनके नाना प्रकार से संवर का प्रतिपक्षीभूत मोह उत्पन्न होता हैं, इस कारण आचार्य व्रत आदिका कथन करते हैं।

६. शंका– क्या संवर शब्द से सभी जगह शुध्दोपयोग का ही ग्रहण करना चाहिए ?

समाधान– नहीं, ऐसा कदापि नहीं। अन्यथा-

दूसरे गुणस्थान में होनेवाला १६ प्रकृतियों की बंध व्युच्छितिरूप संवर को भी शुध्दोपयोग मानना पड़ेगा। पर वहाँ रत्नत्रय के अभाव में मोक्षमार्ग में प्रयोजन भूत संवर नहीं है।

७. शंका – तो क्या अध्यात्मिक दृष्टि से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति रूप संवर मोक्षमार्ग में ग्राह्य है।

समाधान– नहीं ! क्योंकि चरणानुयोग में कथित द्रव्य व्यवहार ही संवर तब चतुर्थ गुणस्थान में नहीं है तो फिर अध्यात्म रूप निश्चय संवर ऐसे कैसे हो सकता है क्योंकि अध्यात्म दृष्टि से व्यवहार और निश्चय में साध्य-साधक संबंध है।

८. शंका– चरणानुयोग कथित व्यवहार संवर किस गुणस्थान से प्रारम्भ होता

है।

समाधान– '' स गुप्ति- समिति-धर्मानुप्रेक्षा परिषहजय चारित्रैः।
त.सू. ९/२

'' वद समिदी गुत्तीओ धम्माणुपेहा परिषहजओ य।
चारित्तं बहु भेयं णायव्वा भाव संवर विसेसा ''॥ बृ.दक्र.संगा. ३२

अर्थात् ३ गुप्ति, ५ समिति, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षा, २२ परिषह जय और ५ प्रकार का चारित्र एक मात्र मुनि के ही पाये जाते हैं। अथवा ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षा, २२ परिषहजय तथा अनेक प्रकार के चारित्र सभी मुनियों के ही पाये जाते हैं। अत: में व्यवहार रूप द्रव्य या भाव संवर एक मात्र मुनियों के ही पाये जाते हैं।

९. शंका– तो फिर यहाँ ४१ प्रकृतियों का संवर कैसे घटित होगा ?

समाधान– जिस कर्म का वहाँ बंध का अभाव है तो वहाँ सहज ही संवर घटित हो जाता है। वह कोई पुरुषार्थ साध्य नहीं हैं, यही कारण है कि चरणानुयोग उसे संवर के हेतुओं में घटित नहीं करता है।

१०. शंका– क्या ये व्यवहार रत्नत्रय साधन व निश्चय रत्नत्रय साध्य है ?

समाधान– एवं व्रत, समिति गुप्ति, धर्म द्वादशानुप्रेक्षा परिषहजय चरित्राणां भाव संवर कारणभूतानां यद व्याख्यानं कृतं, तत्र निश्चय रत्नत्रय साधक व्यवहार रत्नत्रय रूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रव संवर कारणानि ज्ञातव्यानि। यानि तु व्यवहार रत्नत्रय....साध्यस्य शुद्धोपयोग लक्षण निश्चय रत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्य-पाप द्वय संवर कारणानि भवतीति ज्ञातव्यम्॥। द्र.स. टी. गा. ३५/११८

अर्थात्- इस प्रकार भाव संवर के कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म. अनुप्रेक्षा, परिषहजय, और चारित्र इन सब का जो पहिले व्याख्यान किया है उस व्याख्यान में निश्चय रत्नत्रय को साधनेवाले जो व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोग है ; उसका निरूपण करने वाले जो वाक्य हैं वे पापास्रव के संवर में कारण जानने चाहिए। और जो व्यवहार रत्नत्रय के साध्य शुध्दोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय के प्रतिपादन वाक्य हैं वे पुण्य तथा पाप इन दोनों आस्रवों के संवर के कारण होते

हैं, ऐसा समझना चाहिए।
इस प्रकार निश्चय व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप संवर में साध्य साधक भाव को जानना चाहिए।

११. **शंका**– क्या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती वा पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीवों में भी संवर होता है ?

समाधान– सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं।
एदे संवरणामा जोगाभावों तहाचेव॥ का.अ.- ९५
सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायों का जीतना और भोगों का अभाव ये सब संवर के नाम हैं। किन्तु यह सब शुभयोग रूप होने से अशुभयोग का संवर करता है। जैसा कि वारसाणुपेक्खा में कहा है -
'' सुह जोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुह जोगस्स णिरोहो शुद्धुवजोगेण संभवदि॥'' वा.आ. ६३
मन,वचन, काय की शुभ प्रकृतियों से अशुभोपयोग का संवर होता है और शुद्धोपयोग से शुभोपयोग का भी संवर हो जाता है। पर यह सब कथन भी व्यवहार प्रधान कथन ही है। निश्चय नहीं जानना चाहिए।

१२. **शंका**– शुध्दोपयोग रूप संवर क्या चतुर्थ गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक होता हैं ?

समाधान– नहीं, क्योंकि शुध्दोपयोग '' अप्रमत्तादि क्षीण कषाय पर्यंतेषु तारतम्येन शुध्दोपयोगो वर्तते ''।
७ वें गुणस्थान से १२ वें गुणस्थान तक शुध्दोपयोग होता है अत: शुध्दोपयोग संबंधी संवर भी ७ से १२ वें गुणस्थान तक ही होता है। १ से ६ गुणस्थान सराग होने से इन गुणस्थानवर्तियों को शुभोपयोग के काल में मुख्य रूप से पाप प्रकृतियों का संवर होता है किन्तु उस समय बुद्धिपूर्वक होने वाले पुण्य कार्यों से पुण्यास्रव ही होता है।

१३. **शंका**– क्या निश्चय स्वरूप संवर मुनियों को ही पाया जाता हैं ?
समाधान– जस्सण विज्जदिरागो दोसो मोहो व सव्व दव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुंस्स॥ पं.का. १४२
जिसे सर्व द्रव्यों के प्रति राग द्वेष या मोह नहीं हैं उस सम सुख दुख भिक्षु

(शुद्धोपयोगी) को शुभ और अशुभ कर्म आस्रवित नहीं होते हैं।

१४. शंका– चतुर्थ गुणस्थान में ४१ प्रकृतियों का संवर एक मात्र शुद्धापयोग से ही होता हैं।

समाधान– यह एक गलत धारणा है। यदि चतुर्थ गुणस्थान में ४१ प्रकृतियों का संवर तो अधिक से अधिक साधिक दो छयासठ सागर तक संभव हैं अत: शुद्धोपयोग भी जब तक रहना चाहिए किन्तु नहीं रहता हैं क्योंकि वह तो ध्यान स्वयं होता है और ध्यान पर्याय अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त से अधिक रहती नहीं है। अत: जहाँ जहाँ संवर है वहाँ वहाँ शुद्धोपयोग हैं यह गलत हैं अपितु वहाँ वहाँ शुद्धोपयोग हो भी सकता है और नहीं भी हो किन्तु जहां जहां शुद्धोपयोग है वहाँ वहाँ तो नियम से संवर होगा ही और तब तक शुध्दोपयोग रहेगा तब तक निरंतर संवर चलता रहेगा॥

यद्यपि षड्द्रव्यपञ्चास्तिकाय सप्तत्व नवपदार्था: साध्यसाधककभावेन निश्चयसम्यक्त्वहेतुत्वाद्व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति, तथापि निश्चयेन वीतरागपरमानन्दैक स्वभाव: शुद्धात्मोपादेय इति रूचिरूप परिणाम परिणत शुद्धात्मैव निश्चय सम्यक्त्वं भवति।

प.प्र.टीका ८४ पृ.नं. ८८

यद्यपि छह द्रव्य, पांच अस्तिकय, सात तत्व, नव पदार्थों का श्रद्धान साध्य साधक (कार्यकारण) भाव से निश्चय सम्यक्त्व का कारण होने से व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता हैं अर्थात् व्यवहार साधक (साधन) है निश्चय साध्य है तो भी निश्चय नय से एक वीतराग परमान्द स्वभाव वाला शुद्धात्मा ही उपादेय है रुचि रूप परिणाम से परिणत हुआ आत्मा शुद्धात्मा ही निश्चय सम्यक्त्व हैं।

प.प्र.टी. १/९४

१५. शंका– प.प्र. टीका गा. ९३ में कहा था कि (" स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रूचि कारणाननिश्चय सम्यक्त्वं भवति") अपनी शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रूचि करने से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है किन्तु यहाँ कहते हो कि (निश्चयेन वीतराग परमानंदैक स्वभाव: शुद्धात्मोपादेय इति रूचि रूप परिणाम परिणत शुद्धात्मैव निश्चय सम्यक्त्वं भवति) निश्चय से एक वीतराग परमानंद स्वभाववाली शुध्दात्मा ही उपादेय है ऐसी रूचि रूप परिणाम से परिणत शुद्धात्मा ही निश्चय

सम्यक्त्व हैं। ऐसा कह रहे हो, दोनों में अन्तर है। अर्थात् शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी रूचि तथा शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी रूचि रूप परिणाम से परिणत शुध्दात्मा निश्चय सम्यक्त्व है, दोनों में अन्तर है।

समाधान–जब तक शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी मात्र भावनात्मक रूचि रहती है तब तक वह वास्तविकता में सराग सविकल्प रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन ही है, उसे मात्र उपचार से निश्चय सम्यग्दर्शन कह दिया जाता है और वह गृहस्थावस्था में भी संभव है। किन्तु वह वास्तविकता में निश्चय सम्यक्त्व नहीं है। (देखे इसी प्रकरण में शंका समाधान नं १९) और जब शुद्धात्मा उपादेय है, इसी रूचि या परिणामी परिणति। वीतराग निर्विकल्प धर्म/शुक्ल ध्यान रूप लीनता।) जब मुनियों को होती है तब उन्हें यह वास्तविक निश्चय सम्यग्दर्शन होता है, यद्यपि यह अभेद रत्नत्रयात्मक अवस्था ही है।

(११) शुद्धोपयोग

शुद्धोपयोग वह अध्यात्म शैली में प्रतिपादित शब्द है, इसे ही निश्चय अभेद, रत्नत्रय या मोक्षमार्ग कहते हैं। इसे ही निश्चय वीतराग निर्विकल्प रूचि एवं संवेदन स्वानुभूति आदि शब्दों से पुकारा जाता है।आगम इसे सविकल्प, सराग, भेद व्यवहार रत्नत्रय के व्दारा साधा जाने वाला सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के आवारक कर्मों के उपशम क्षय क्षयोपशम के साथ होने वाला वीतराग निर्विकल्प धर्म ध्यान कहता है।

इसे मुनिजन अप्रमत्तादि गुणस्थानों में प्राप्त करते हैं। अप्रमत्त गुणस्थान में भी अत्यन्त जघन्य ही शुद्धोपयोग होता है, बारहवें गुणस्थान में मध्यम् और ९ से ११ गुणस्थान में उत्कृष्ट तथा १३ -१४ वें गुणस्थानों में शुध्दोपयोग का फल होता हैं।

१-६ गुणस्थानों में किंचित् शुद्धोपयोग नहीं होता है।

१. शंका– शुद्धोपयोग किसे कहते हैं ?

समाधान– बाह्याभ्यंतरं परिग्रह रूपं सर्वं त्याज्यमित्युत्सर्गो निश्चय नय: सर्व परित्याग: परमोपेक्षासंयमो वीतराग चारितं शुध्दोपयोग इति भयावदेकार्थ:। प्र.सा./ता.वृ.३/३०

अर्थात् बाह्य और आभ्यंतर सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग उत्सर्ग नय, सर्व परित्याग, परम उपेक्षा संयम और वीतराग चारित्र ये सभी एकार्थवाची हैं।

'' ज्ञानेन निर्वृत्ति ज्ञानात्मकं केवल ज्ञानान्तर्भूतानन्त गुणात्मकं निजात्मानं शुद्ध ध्यान प्रतिपक्षभूत समस्त मनोरथ रूप चिंता जाल त्यागेन ध्यायामीति शुद्धोपयोग लक्षणं ज्ञातव्यं।'' प्र.सा./ता.वृ.२/६७

ज्ञान से उत्पन्न और ज्ञान रूप केवलज्ञान में समाहित अनंत गुणात्मक अपनी आत्मा को शुद्धध्यान से विरोधी समस्त विकल्प जाल से रहित ध्यान करना शुध्दोपयोग का लक्षण है, ऐसा जानना चाहिए।

२.शंका– शुद्धोपयोग के कितने भेद हैं, तथा वह कौन-कौन से गुणस्थानों में होता है ?

समाधान– जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से शुद्धोपयोग के मुख्य तीन भेद हैं।

(१) जघन्य शुद्धोपयोग सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान में होता है।
(२) मध्यम शुद्धोपयोग आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। तथा
(३) उत्कृष्ट शुद्धोपयोग बारहवें क्षीणमोह नामक गुणस्थान में पाया जाता हैं।
(बृ.द्र.सं.टी.३४ पृ. ७७)

३. शंका– शुद्धोपयोग में ध्येय भूत वस्तु क्या है ?
समाधान– '' शुद्धोपयोगे शुध्द बुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनात्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुध्दोपयोगो घटते ''। शुद्धोपयोगमें शुद्ध -बुद्ध एक स्वभाव का धारक जो निज आत्मा है, सो ध्येय होता है। इस कारण शुद्ध ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) होने से शुद्ध अवलम्बन (आधारपने से तथा शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से इस उपयोग को शुध्दोपयोग कहा जाता है।

४. शंका– तीनों प्रकार के उपयोग किस नय का विषय हैं ?
समाधान– '' मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषाय पर्यन्तमुपर्युपरिमन्दत्वान्तारतम्येन तावदशुद्धनिश्चयो वर्त्तते।'' बृ.द्र.सं.टी. ३५ पृ. ७६
मिथ्यात्वगुणस्थान को आदि लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान पर्यन्त ऊपर-ऊपर तारतम्य से अशुद्ध निश्चय वर्तता है।

५. शंका– शुद्धोपयोग क्या गृहस्थ को नहीं हो सकता है, मात्र मुनिको ही होता है ?
समाधान– '' किं जं गिहवंतो बहिरंतर गंथ पर मिओणिचं।
बहु आरंभ पउत्तो कह ज्ञायइ सुद्धमप्पाणं ॥'' आ.सं. ३८४
जो गृहस्थ बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह से युक्त बहुत आरंभ में प्रयुक्त है, वह शुद्धात्मा का ध्यान कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है।
'' जो भणइ को वि एवं आत्थि णिचलं झाणं।
सुद्धं च णिरालं वं ण मुणइ सो आयमो जइणो ॥'' भा.सं. ३८२
जो कोई ऐसा कहता है कि गृहस्थों को निश्चय निरालंब एवं शुद्ध ध्यान होता है वह नियम से जैनागम का ज्ञाता नहीं है।

६. शंका– शुद्धोपयोगी मुनि का लक्षण क्या है ?
समाधान– '' सुविदित पयत्थ सुत्तो संजम तव संजुदो णाणी।

समणो सम सुह दुःखो भणिदो शुद्धोपयोगोत्ति ॥''

अर्थात् जिसने पदार्थ और सूत्रों को अच्छी तरह से जान लिया है। जो संयम, तप से युक्त है, ज्ञानी है, सुख-दुख में समता रखने वाला है ऐसे श्रमणों को ही शुद्धोपयोगी कहा गया हैं।

७. शंका– कुछ लोग इस गाथा के चारों विशेषणों द्वारा पृथक्-पृथक् शुद्धोपयोग के लक्षण घटित करते हैं। जैसे '' सुविदिती पयत्थ सुत्तो'' इस विशेषण का अर्थ एवंभूत नय से स्वपर भेद विज्ञान करते हैं और इसे चतुर्थ गुणस्थान से भूमिका या निज रूप मानकर शुद्धोपयोग घटित करते हैं।

'' संजम तव संजुदो णाणी'' चतुर्थ गुणस्थानवर्ती उपरोक्त काल में उक्त समस्त इच्छाओं से रहित होने के कारण संयम और तप से सहज ही युक्त रहता है। अथवा इस विशेष को ५-१० वें गुणस्थान तक घटित करते हैं। और वहां से उनमें शुद्धोपयोगी मानते है विगत रागोत्ति यह विशेषण क्रमशः ४,८,१२ कषायों का अभाव होने से चौथे पाँचवें तथा छठ्ठे आदि गुणस्थान में लगाते है। अथवा पूर्णता की अपेक्षा ११ वें और १२ वें गुणस्थान में लगाते हैं।

'' सम सुह दुःखों '' विशेषण ५ वें गुणस्थान से प्रारम्भ कर पूर्णता १३,१४ वें गुणस्थानवर्तियो व सिद्धों में घटित करते हैं ऐसा अर्थ ही क्या उचित है। (यदि ''श्रमणों'' इस पाँच वें विशेषण का अर्थ ओर करते तो फिर सभी शंकाओं का समाधान स्वतः ही हो जाता)

समाधान– अतः उपरोक्त शंकाओं का एक ही समाधान है । प्रवचनसार की लगभग जितनी भी टीकाएँ आज तक जैनाचार्यों ने की हैं उनमें उक्त गाथा के चार विशेषणों में पृथक् पृथक् शुद्धोपयोग के लक्षण किसी भी आचार्यों ने घटित नहीं किये अपितु सभी ने इनकी युगपत् अवस्था स्वरूप अभेद रत्नत्रय-मय एकता को ही शुद्धोपयोग कहा है । यही कारण है कि किसी भी आचार्यों ने चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग ही नहीं माना है। तो भूमिका स्वरूप शुद्धोपयोग का सवाल ही नहीं रह जाता है। इसका प्रारम्भ सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान से ही होता है। तथा यदि शुद्धोपयोग को ही सिद्ध करना है, तो फिर इतना ऊहापोह क्यों ? स्पष्ट करना चाहिए कि मोहनीय कर्म का पूर्ण उपशम हो जाने से औपशमिक रूप पूर्ण शुद्धोपयोग ग्यारहवें गुणस्थान में होता है। तथा मोहनीय कर्म के पूर्ण क्षय हो जाने क्षायिक रूप पूर्ण शुद्धोपयोग बारहवें गुणस्थान में होता है। तथा तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग नहीं होता अपितु शुद्धोपयोग का फल होता है।

क्योंकि दोनों में कारण कार्य का भेद है। तथा सातवें गुणस्थान में ही बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से एक देश नयाश्रित शुद्धोपयोग का प्रारम्भ होता है। यही जैनाचार्यों का व आगम का एक मत है। कि '' अप्रमत्तादिषु क्षीणकषाय पर्यंत जघन्य मध्यमोत्कृष्ट भदेन विविक्षितैक देशशुद्ध नय रूप शुद्धोपयोगों वर्तते।'' अतः इस आगम वाक्य के अन्यथा प्रतिपादन करने का अनावश्यक श्रम नहीं करना चाहिए।

८. **शंका**– अशुद्ध निश्चय नय में शुध्दोपयोग कैसे घटित होता है ?

समाधान– '' अप्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्ट भेदेन विवक्षितैक देश शुध्द नय रूपशुध्दोपयोगो वर्तन्ते।''

वृ.द्र.सं.टी. ३५पृ. ७७

अप्रमत्त आदि क्षीणकषायपर्यन्त छह गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एक देश शुद्धनयरूप शुद्ध उपयोग वर्तता है।

९. **शंका**– शुध्दोपयोग क्या अभेद रत्नत्रयात्मक पर्याय है ?

समाधान–''सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्ष

निज परमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरण पर्यायरूपेण परिणमाति। तच्च परिणमन मागमभाषायौपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाष या पुनः शुध्दात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते। सच पर्यायः शुद्ध पारिणामिकभावलक्षण शुद्धात्मद्रव्यात्मकथंचिदिभन्नः। कस्मात् ? भावनारूपत्वात्। शुद्ध पारिणामिकस्ततु भावनारूपोन भवति। यद्येकान्तेन शुद्ध पारिणामिकभिन्नो भर्वात तदास्य भावना रूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुध्दपारिणामिक भावस्यापि विनाशः प्राप्नोतिः न च तथा। ततः स्थितं शुध्दपारिणामिक भावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वान्मोक्षकारणं भवति, न च शुध्दपारिणामिकः॥'' (स.सा. ता./वृ. ३४३)

निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रध्दान , ज्ञान और आचरण की पर्याय के रूप में परिणमन करता है उसी ही परिणमन को आगम भाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव इन तीनों नामों से कहा जाता है। वही अध्यात्मभाषा में शुध्दात्मा के अभिमुख परिणाम कहलाता है, जिसको शुद्धोपयोग

इत्यादि पर्यायरूप नाम से कहते है। वह शुद्धोपयोग रूप पर्याय भी शुद्धपारिणामिकभाव है लक्षण जिसका ऐसे शुध्दात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न रूप होती है क्यों कि वह भावनारूप होता है। किन्तु शुद्धपारिणामिक भाव भावनारूप नहीं होता है। यदि इस भावना रूप परिणाम को एकान्तरूप से शुद्धपारिणामिकभाव से अभिन्न ही मान लिया जाय तो मोक्ष का कारणभूत भावनारूप परिणाम का तो, मोक्ष हो जाने पर नाश हो जाता है। तब उसके नाश हो जाने पर शुध्दपारिणामिक भाव का भी नाश हो जाना चाहिए ? सो ऐसा है नहीं। इसलिये यह निश्चित है कि शुद्धपरिणामिकभाव के विषय में जो भावना है उस रूप जो औपशमिकादि तीन भाव हैं सो रागादिक समस्त विकारभावों से रहित होने से शुध्द-उपादान के कारण रूप है इसलिये मोक्ष के कारण होते है, किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव मोक्ष का कारण नहीं है। एक बात का और ध्यान रखना चाहिए शुध्दोपयोग निर्विकल्प वीतराग धर्मध्यान है जो कि चारित्र गुण की पर्याय है।

१०. शंका – शुध्दोपयोग जीव की क्या शुद्ध पर्याय है या अशुध्द पर्याय ?

समाधान– ''संवर शब्द वाच्यः शुध्दोपयोगः संसारकारणभूत मिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न भवति तथैव फलभूतकेवलज्ञानलक्षण शुध्दपर्यायवत् शुध्दोऽपि न भवति किन्तु ताभ्यामशुद्धशुद्ध पर्यायाभ्यां विलक्षणं शुध्दात्मानुभूतिरूपनिश्चय रत्नात्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेकदेश निरावारणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते॥'' वृ.द्र.स.टी.गा.३५ पृ.७७

'संवर' इस शब्द से कहे जाने योग्य जो शुध्दोपयोग है सो संसार के कारणभूत जो मिथ्यात्व, राग आदिअशुध्द पर्याय है उनकी तरह अशुध्द नहीं होता है, और इसी प्रकार फलभूत जो केवलज्ञान स्वरूप शुद्धपर्याय है उसकी भांति शुध्द भी नहीं होता है। किन्तु उन अशुद्ध तथा शुध्द दोनों पर्यायों से विलक्षण, शुध्द आत्मा के अनुभवस्वरूप निश्चयरत्नत्रयरूप, मोक्ष का कारण, एक देश में व्यक्तिरूप (प्रकटरूप) और एक देश में आवरण रहित ऐसा तृतीय अवस्थान्तर रूप कहा जाता है।

११. शंका– कारणानुसार ही कार्य होता है, अतः यदि कार्य शुध्द हो रहा है तो फिर उसके कारण भी शुध्द होना चाहिए, तृतीय (क्षयोपशमिक) अवस्था रूप नहीं होना चाहिए।

समाधान- केवलज्ञानं सकलनिरावरणं शुध्दं तस्य कारणेनापि सकल निरावरणेन शुध्देन भाव्यम्, उपादानकारणसद्दशं कार्यं भवतीति वचनात्। तस्यकारणे तत्रोत्तरं दियतेयुक्तमुक्तं भवता परं किन्तुपादानकारणमपि षोडशवर्णिकासुवर्णकार्यस्थाधस्त नववर्णिकोपादानकारणवत्, मृन्मयकलशकार्यस्य मृत्पिंडस्थासकोशकुशूलोपादान कारणवदिति च कार्यादेरूदेशेन भिन्नं भवति. यदि पुनरेकान्तेनोपादानकारणस्य कार्येण सहाभेदो भेदो वा भवति तर्हि पूर्वोक्त सुवर्ण मृत्तिकादृष्टान्तद्वयवत्कार्यकारणभावो न घटते। ततः किं सिध्दे एकदेशेन निरावरणत्वेन क्षायोपशमिकज्ञानलक्षणमेक देशव्यक्ति रूपं विवंक्षितैकदेशे शुध्दनयेन संवर शब्द वाच्यं शुध्दोपयोगस्वरूपं मुक्तिकारणं भवति। यच्च लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्मनिगोदजीवे नित्योद्घाटं निरावरणं ज्ञानं श्रूयते तदपि सूक्ष्मनिगोद सर्व जघन्यक्षयोपशमापेक्षया निरावरणं न च सर्वथा। कस्मादिति चेत् तदावरणे जीवाभावः प्राप्नोति। वस्तुत उपरितनक्षायोपशमिकाज्ञानापेक्षया केवलज्ञानापेक्षया च तदपि सावरणं संसारिणां क्षायिकाज्ञानाभावाच्च क्षायोपशमिकमेव ।यदि पुनर्लोचनपटलस्थैकदेशनिरावरणवत्केवलाज्ञानांशरूपं भवति तही तेनैकदेशेनापि लोकालोकप्रत्यक्षतां प्राप्नोति न च तथा दृश्यते। किन्तु प्रचुरमेघप्रच्छादितादित्यबिम्बवन्निबिडलोचनपटलवद्वा स्तोकं प्रकाशयतीत्यर्थ : ॥ वृ.द्र. सं. टी. ३५ पृ. ७८

यहा कोई शंका करता है कि, केवलज्ञान समस्त आवरणोंसे रहित और शुध्द है। इसलिये केवलज्ञान का कारण भी समस्त आवरणों से रहित तथा शुद्ध होना चाहिये, क्योंकि उपादान कारण के समान कार्य होता है, ऐसा वचन है । अब इस शंका का उत्तर दिया जाता है कि आपने ठीक कहा परन्तु उपादान कारण भी सोलहवानी के सुवर्णरूप कार्य के अधोभागवर्तिनि पूर्ववर्त्तिनी वर्णिकारुप उपादान कारण के समान और मृतिकारूप कलश कार्य के प्रति मृत्तिका, पिण्ड, स्थास कॉश एवं कुशूलरूप उपादान कारण के सदृश कार्य से एक देश से भिन्न होता है अर्थात सोलहवानी के सोने के प्रति जैसे पहले की सब पंद्रह वर्णिकायें उपादान कारण है और घटके प्रति जैसे मृत्ति का पिंड, स्थास, कोष कुशुल आदि उपादान कारण है सो सोलहवानीके सुवर्ण और घटरूप कारणोंसे एकदेश भिन्न है। (सर्वथा सोलह वाणीके सुवर्णस्वरूप तथा घटरूप नही है । इसीप्रकार समस्त उपादान कारण कार्यसे एकदेश भिन्न होते है। और यदि सर्वथा उपादान

कारण का कार्य के साथ अभेद हो तो पूर्वोक्त जो सुवर्ण मृतिका के दो दृष्टान्त हैं । उनके समान कार्य और कारण भाव ही नहीं सिद्ध हो अर्थात सोलह वानीके सुवर्ण को ही सोलहवानीके सुवर्णरूप कार्य के प्रति उपादान कारण माना जावै। अथवा घट कोही घटके प्रति उपादान कारण मानें तो यह इसका कारण है। यह इसका कार्य है इस प्रकार का कार्य कारण भाव नहीं हो सकता । इस कारण क्या सिध्द हुआ कि एकदेश निरावरणता से क्षायोपशमिक ज्ञान रूप लक्षण का धारक एकदेश व्यक्ति रूप और विवक्षित एकदेश में शुद्ध नय से '' संवर'' इस शब्द से वाच्य जो शुध्दोपयोग का स्वरूप है सो मुक्ति का कारण होता है। और जो लब्धिअपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव में नित्योद्घटित (खुला हुआ) तथा आवरण रहित ज्ञान सुना जाता है वह भी सूक्ष्म निगोदिया जीवमें सर्व जघन्य जो क्षयोपशम है उसकी अपेक्षा से आवरण रहित है, सर्वथा नहीं । ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि यदि ज्ञान का आवरण ही हो तो जीव का अभाव प्राप्त होता है अर्थात में तो उपरिवर्ती, क्षायोपशमिक ज्ञान की अपेक्षा से और केवलज्ञान की अपेक्षा से वह ज्ञान भी आवरण सहित है और संसारी जीव के क्षायिक ज्ञान का अभाव है इसलिए क्षायोपशमिक ही है और यदि नेत्र पटल के एकदेश में निरावरण के तुल्य वह ज्ञान केवलज्ञानांश रूप हो तो उस एकदेश से भी लोक व अलोक का प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाए अर्थात् लोक, अलोक प्रत्यक्ष में जान पड़े परंतु ऐसा नहीं देखा जाता किन्तु अधिक मेघो (बादलों) से आच्छादित सूर्य के बिंब के समान अथवा निविड नेत्रपटल के समान वह किंचित् किंचित् प्रकाश करता है, यह तात्पर्य है।

पुण्यार्जक

ारी लाल जैन (गंगवाल)

श्रीमती तारामणी जैन (गंग

गुलजारी लाल जैन (गंगवाल

कीगंज विहार द्वारा प्रकाशित